Shri. Meher Baba Ki Akhand Jyoti is copyrighted © by the Avatar Meher Baba Perpetual Public Charitable Trust and is reproduced by permission.

श्री मेहेरबाबा

श्री मेहेरबाबा

की

अखंड ज्योति

भाग

३

03741-C

मूल्य ३ रु.

आदि के. इरानी
मेहेर पब्लिकेशन्स
किंग्जरोड, अहमदनगर.

प्रथम संस्करण

१० जुलाई १९५०

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

———

★

मुद्रक
नवसमाज प्रेस,
रामदास पेठ,
नागपूर.

प्रकाशक
आदि. के. इरानी
मेहेर पब्लिकेशन्स
किंग्जरोड, अहमदनगर.

वक्तव्य

श्रीमेहेरबाबा के जो आध्यात्मिक लेख और संदेश समय समय पर 'Meher Baba' मासिक में प्रकाशित हुए हैं उनका यह अनुवाद "श्रीमेहेरबाबा की अखंड ज्योति" (तीन भाग) के रुपमें जनताजनार्दन को समर्पित करते हुए हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है।

पं. कुंजबिहारी चौबेजी के प्रति हम परम कृतज्ञ हैं जिन्होंने मूल अंग्रेजी लेखोंका हिंदीमें अनुवाद किया है। इस अनुवाद को यथोचित सुधाकर पं. बलदेवप्रसाद मिश्रजीने भी हमें उपकृत किया है।

इसी प्रकार प्रेस कॉपी तैयार करने तथा प्रूफ शुद्धीकरण और प्रकाशन की योजना और संचालक में जिन सज्जनोंने हाँथ बटाकर इस कार्य को पूरा करने में महत्वपूर्ण सहायता पहुँचायी उन, श्री. जे. डी. केरावाला, डॉ. च. ध देशमुख, श्री. ब. प्र. उपाध्याय श्री. प्रे. ना. भट्ट और श्री. अबिकाचरणजी शुक्ला इत्यादि सज्जनों के भी हम अत्यंत आभारी हैं।

वैसे ही पुस्तकोंको इस रूप में मुद्रित करानेके लिये हम मुद्रक महाशयों को भी हार्दिक धन्यवाद देते है।

अहमदनगर
१० जुलाई १९५०

आदि. के. इरानी
मेहेर पब्लिकेशन्स

विषय-सूचि

पृष्ठ

हमें ईश्वर के लिए ही जीना तथा ईश्वर के लिए ही मरना चाहिए १–२
मानवता की आध्यात्मिक स्वतंत्रता के लिए कार्य ३–१०
आध्यात्मिक कार्य-कर्ताओं के लिए कार्य ११–२२
सत्य की अनन्तता २३–३४
आध्यात्मिक उन्नति की गतिप्रक्रिया ३५–४९
अच्छा और बुरा ५०–६३
साधना के गंभीर स्तर ६४–७९
साधक के विशिष्ट गुण भाग १ ला ८०–९१
साधक के लिए विशेष सद्गुण भाग २ रा ९२–१०१
साधक के लिए आवश्यक गुण भाग ३ रा ... १०२–११३
साधक के विशिष्ट सद्गुण भाग ४ था ११४–१२४
माया-भाग-१-(मिथ्या मूल्य) १२५–१३३
माया-भाग-२-(मिथ्या विश्वास) १३४–१४१
माया-भाग-३-(माया-जन्य भ्रमों का अतिक्रमण) १४२–१५१
माया-भाग-४-(ईश्वर और माया) १५२–१५९
सुख की शर्तें भाग १ ला १६०–१७१
.... भाग २ रा १७२–१८१
ईश्वर अनन्त प्रेम के रूप में १८२–१९१
पुनर्जन्म तथा कर्म भाग १ ला १९२–२०२
.... भाग २ रा २०३–२१४
... भाग ३ रा २१४–२२३
... भाग ४ था २२४–२३०
.... भाग ५ वा २३०–२३८
... भाग ६ वा २३८–२५०
... भाग ७ वा २५०–२५९

१.

हमें ईश्वर के लिए ही जीना तथा ईश्वर के लिये ही मरना चाहिए।

यह युद्ध एक आवश्यक बुराई है; युद्ध ईश्वरीय योजना का एक भाग है। मानवता को सत्य के लिए जाग्रत करना ही ईश्वरीय योजना है। यदि युद्ध से प्राप्त होने वाली शिक्षासे मानवताने लाभ नहीं उठाया तो उसकी यंत्रणा व्यर्थ सिद्ध होगी। वर्तमान युद्ध यह सिखा रहा है कि सड़क पर चलने-वाला साधारण व्यक्ति भी निःस्वार्थ हेतु की सिद्धि के लिए महान् से महान् बलिदान कर सकने की क्षमता रखता है। इसके अतिरिक्त युद्ध यह शिक्षा भी दे रहा है कि संसार की समस्त भौतिक वस्तुएं-धन, अधिकार, सत्ता, कीर्ति, कुटुंब तथा सांसारिक जीवन क्रम भी,-नश्वर तथा सार शून्य है। युद्ध की घटनाओंसे प्राप्त होने वाली शिक्षाओं के परिणाम स्वरूप मनुष्य एक मात्र सत्य अर्थात् ईश्वर की ओर अंतर्मुख होगा। युद्ध की शिक्षाओं के फल स्वरूप मानव-जाति सच्ची तथा स्थायी मूल्यकी चीजों को प्राप्त करने के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त करेगी। अपने देश अथवा राजनैतिक आदर्श

के लिए मनुष्य असीम आत्मबलिदान कर रहे हैं तथा अकथनीय कष्ट सहन कर रहे हैं। इसीसे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर या सत्य के लिए भी इसी प्रकार आत्मबलिदान तथा कष्ट सहन कर सकने की क्षमता उनमें विद्यमान है। सभी धर्मोंने असंदिग्ध रूपसे सत्यपर सभी मनुष्यों का समान अधिकार बतलाया है; अतएव धर्मोंके नाम में युद्ध करना निरी मूर्खता है। समय आ चुका हैं जब मनुष्य सत्यका नवीन दिग्दर्शन करे और यह स्वीकार करे कि समस्त जीवन एक है और **ईश्वरही एकमात्र सत्य तथा सार है।** ईश्वरही के लिए हमारा जीना सार्थक है तथा ईश्वरही के लिए हमारा मरना सार्थक है। अतः हमें ईश्वर के लिए ही जीना चाहिए तथा ईश्वरके लिए ही मरना चाहिए। अन्य वस्तुओं के लिए जीना व्यर्थ है क्योंकि वे सार- शून्य तथा तुच्छ हैं; उनका मूल्य अस्थायी एवं भ्रामक है।

२.

मानवता की आध्यात्मिक स्वतंत्रता के लिए कार्य

सारे संसार में मनुष्यका आत्मा स्वतंत्रता का आव्हान कर रहा है। **सभी जातियों में, तथा सभी परिस्थितियों में, सभी देशों में तथा सभी कालों में अंधःकार में भटकने वाली युद्धनिरत मानवता का ज्योति-स्तंभ रहा है—स्वातंत्र्य।** स्वातंत्र्य—प्रेम तथा स्वतंत्रता की खोज मानवता के मुख्य लक्षण हैं। किंतु सच्ची तथा निर्विकार स्वतंत्रता के पूर्ण अर्थ और महत्व को यथार्थ में समझने वाले लोगों की संख्या बहुत थोड़ी है। इसके विपरीत, ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक है जिन्हें वास्तविक सत्य का केवल आंशिक ज्ञान रहता है और अपने इस आंशिक ज्ञान के आधारपर वे ऐसे जीवन की खोज करते हैं जिसके द्वारा उन्हें साक्षेप स्वतंत्रता का आभास प्राप्त होता है। **इस भाँति भिन्न भिन्न लोग, अपनी-अपना मूल्य-संबंधी-धारणा के अनुसार, भिन्न भिन्न प्रकार की स्वतंत्रता की आकांक्षा करते हैं।**

स्वंतत्रता के लिए पुकार

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जीवन–स्वातंत्र्य की खोज की जाती है। तथा **स्वतंत्रता की यह मांग अकसर किसी बाह्य वस्तुस्थिति की आसक्ति पर आश्रित रहती है।** मनुष्य जिस प्रकार के जीवन की इच्छा करता है उस इच्छा की पूर्ती के लिए जिन बाह्य सामग्रीयों या अवस्थाओं की उसे आवश्यकता होती है, उन सामग्रियों को जुटाना या उन अवस्थाओं को प्राप्त करना ही उसके लिए स्वातंत्र्य होता है। जो मनुष्य अपने अस्तित्व को अपने देश से युक्त कर लेते हैं वे राष्ट्रीय या राजनैतिक स्वतंत्रता की खोज करते हैं; जो आर्थिक उद्देश से प्रेरित होते हैं वे आर्थिक स्वतंत्रता की खोज करते हैं; जो धार्मिक आकांक्षाओं से प्रोत्साहित होते हैं वे धार्मिक स्वतंत्रता की खोज करते हैं; तथा जो किसी सामाजिक या सांस्कृतिक विचार धारा से उत्साह प्राप्त करते हैं वे उन विचार धाराओं के प्रचार तथा प्रसार के लिए कार्य और विचार की स्वतंत्रता की खोज करते हैं। किंतु ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है जो यह जानते हैं कि इन विभिन्न क्षेत्रों तथा इन विभिन्न दिशाओं की सापेक्ष स्वतंत्रता को वास्तविक मूल्य प्रदान करने वाली मौलिक स्वतंत्रता आध्यात्मिक स्वतंत्रता है। स्वतंत्र जीवन की बाह्य शर्तों तथा आवश्यकताओं के पूर्ण हो जाने पर भी मनुष्य का आत्मा तबतक दुखद बंधन से बद्ध रहेगा जबतक वह आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में असफल रहेगा।

स्वतंत्रता के प्रकार

किसी न किसी बाह्य शर्तपर अवलंबित रहने वाली समस्त विभन्न प्रकारों की स्वतंत्रता स्वभावतः कुछ न कुछ सीमाओं के अंतर्गत रहती है क्योंकि एक व्यक्ति, या समाज, या राज्य को जैसी स्वतंत्रता चाहिये वैसी ही स्वतंत्रता की अन्य व्यक्ति या समाज या राज्य को भी आवश्यकता रहती है। राष्ट्रीय, आर्थिक, धार्मिक या सांस्कृतिक स्वतंत्रता अपने आपको अस्तित्व के द्वैत द्वारा व्यक्त करती है; वह द्वैत पर आश्रित तथा द्वैत के द्वारा पोषित होती है। अतः ऐसी स्वतंत्रता आवश्यक रूपसे सापेक्ष और सीमित होगी तथा वह **अनन्त** नहीं हो सकती। ऐसी स्वतंत्रता का अस्तित्व भिन्नभिन्न अंशों में होगा, और अनवरत उद्योग के द्वारा उसे प्राप्त करने पर भी वह एक स्थायी प्राप्ति न होगी क्यों कि एक बार प्राप्त की जाने वाली बाह्य शर्तें सदैव के लिए प्राप्त नहीं हो जातीं। समय बीतने पर उनमें विकार अवश्य आ जाता है।

स्वतंत्रता की सीमाएं

केवल आध्यात्मिक स्वतंत्रता ही नित्य तथा अनन्त है और जब अनवरत उद्योग के द्वारा वह प्राप्त की जाती है तो वह सदैव के लिए प्राप्त हो जाती है; क्यों कि, यद्यपि आध्यात्मिक स्वतंत्रता अस्तित्व के द्वैत में, तथा अस्तित्व के द्वैत के द्वारा प्रकट होती तथा अपने को प्रकट कर सकती है तथापि वह समस्त जीवन की **अविच्छेद्य** एकतापर अधिष्ठित तथा उस एकता के द्वारा पोषित होती है।

केवल आध्यात्मिक स्वतंत्रता ही अनन्त हो सकती है।

आध्यात्मिक स्वतंत्रता की एक आवश्यक शर्त है समस्त चाहोंसे स्वतंत्रता-समस्त इच्छाओं से मुक्ति। चाह से उन बाह्य शर्तों पर आसक्ति हो जाती है जो उस चाह को पूरी करते हैं और इस प्रकार चाह के द्वारा जीवन सीमित हो जाता है। यदि चाह न रहे तो परतंत्र, परावलंबी तथा सीमित रहने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। चाह के द्वारा आत्मा दासत्व को प्राप्त होता है। जब आत्मा चाहकी शृंखलाओं को तोड़ता है तो वह शरीर की दासता, मन की दासता तथा अहंकार की दासता से मुक्त हो जाता है। यही वह आध्यात्मिक स्वतंत्रता है जिससे समस्त जीवन की एकता की अंतिम अनुभूति होती है तथा जिससे समस्त शंकाओं और चिंताओं का अंत होता है।

आध्यात्मिक स्वतंत्रता का महत्व

आध्यात्मिक स्वतंत्रता से ही मनुष्य को अमर सुख तथा निर्विकार आत्म-ज्ञान प्राप्त होगा। आध्यात्मिक स्वतंत्रता से ही सत्य का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। आध्यात्मिक स्वतंत्रता से ही दुखों और बंधनों का अंत होता है। आध्यात्मिक स्वतंत्रता के ही द्वारा एक व्यक्ति सभी व्यक्तियों के लिए जी सकता है तथा समस्त कर्मों को करता हुआ भी अनासक्त रह सकता है। आध्यात्मिक स्वतंत्रता से कम कोई भी स्वतंत्रता रेत पर बने घर के सदृश है। आध्यात्मिक स्वतंत्रता के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्राप्ति एक न एक दिन नाश को

प्राप्त हो जायगी। अतएव आध्यात्मिक स्वतंत्रता से बढ़कर कोई उपहार नहीं है तथा औरों को आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में स्वतंत्रता देने के कार्य से अधिक महत्वपूर्ण कोई कार्य नहीं है। जो आध्यात्मिक स्वतंत्रता के परम महत्व को समझ चुके हैं उनको चाहिये कि वे न केवल स्वयं आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करें किंतु उसे प्राप्त करने के औरों के प्रयत्न में भी सहायक हों। औरों के आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के प्रयत्न में सहायक होना उनका ईश्वर–प्रदत्त कर्तव्य है।

सच्ची सेवा

निःस्वार्थ सेवा–भावसे प्रेरित व्यक्ति मानव जाति की समस्त संभव सेवाएं करने में विलंब नहीं करते। वे वस्त्र, आश्रय, भोजन, औषधि, शिक्षा तथा सभ्यता–जन्य अन्य सुविधाएं उन लोगों को प्रदान करते हैं जिन लोगों को जीवन की इन आवश्यकताओं की जरूरत रहती है। वे अपने लोक–सेवा के कर्तव्य का पालन करने के लिए आक्रमण तथा निष्ठुर अत्याचार से दुर्बलों की रक्षा करने के लिए युद्ध करने को तैयार रहते हैं। इतना ही नहीं औरों के लिए वे अपने प्राणोंका बलिदान करने के लिए भी तयार रहते हैं। ये सब प्रकार की सेवाएं महान और महत्व पूर्ण हैं किंतु अंतिम ऐसी सेवा महत्व में सर्वोत्तम है।

अन्यान्य प्रकार की सेवा करने की रीति से औरों को, आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में, सहायता देने की सेवा की रीति बहुत भिन्न है। भूखों को आप भोजन दे सकते हैं और उन्हें केवल उसे खाने का कार्य करना पड़ता है। नगों को आप कपड़े दे सकते हैं। और उन्हें केवल पहनना बाकी रह जाता है, और गृह-रहित व्यक्तियों को आप मकान दे सकते हैं और उनमें रहना ही उनका काम रह जाता है किंतु आध्यात्मिक बंधनों की यंत्रणा से ग्रस्त लोगों के लिए ऐसी कोई बनी-बनायी सामग्री नहीं है जिसे देने से उनकी कठिनाई तुरंत दूर हो जाय। आध्यात्मिक स्वतंत्रता स्वयं अपने द्वारा, स्वयं अपने लिए प्राप्त करनी पड़ती है। आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपने अहंकार तथा अपनी निम्नतर इच्छाओं के विरुद्ध कठोर तथा जागरूक युद्ध करना पड़ता है। जो सत्य के लिये सैनिक होना चाहते हैं उन्हें सभी व्यक्तियों को, आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने की रोमांचकारी साधना के लिए प्रवृत्त होने में, सहायता पहुचानी चाहिए। सत्य के लिए जो योद्धा बनना चाहते हों उनका कर्तव्य है कि वे समस्त मनुष्यों को ऐसी सहायता पहुंचावें जिससे वे आत्म-विजय के युद्ध के क्षेत्र में पदार्पण कर सकें और जब वे आत्म-विजय प्राप्त करने के लिए समरांगण में पदार्पण करें तो

आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में औरों को सहायता देने का तरिका

उनके प्रत्येक पग में उनकी सहायता करें। उन्हें बोझ-मुक्त करने का और कोई उपाय नहीं है।

आव्हान

मेरे भक्तों, मुझे पूर्ण विश्वास है कि मानवता का यह बोझ हलका करने में तुम उसकी सहायता करोगे। तुममें से अनेकों ने मेरे प्रति प्रेम और मुझमें विश्वास रखा, बरसों मेरी आज्ञाओं का पालन किया है तथा मेरे आदेशों के अनुसार कार्य किया है तुम लोग आँधी-तूफ़ानों तथा सुविधाओं और संकटों के समय मेरे साथ रहे तथा मेरे आध्यात्मिक कार्य की सहायता करते रहे। अब वह समय आ गया है कि ईश्वरानुभूति के लिये आध्यात्मिक पथ पर पदार्पण करने में मानवता की सहायता करने के मेरे धर्म-कार्य में तुम लोग अपनी सारी सेवाएं अर्पित करो। ईश्वरही एकमात्र वास्तविकता है—इस अनन्त सात्थको स्पष्टतः समझने निष्कपट भाव से स्वीकार करने तथा असंदिग्ध रूपसे शब्दों में व्यक्त करने की महान् आवश्यकता है। सत्य की परम अनुभूति में मनुष्य आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करेगा। मनुष्य को आध्यात्मिक दासता से मुक्त करने के लिए कैसा भी बलिदान कोई बड़ा बलिदान नहीं है। उस सत्य की प्राप्ति में मानवता की सहायता करने से बढ़कर कोई सहायता नहीं है जिसकी प्राप्ति हो जाने पर तुम्हें परम शांति मिलेगी, जिसके प्राप्त होने से विश्व-प्रेम का अजेय भाव उत्पन्न होगा। उस सत्य की अनुभूति हो जाने

पर मनुष्य को यह अनुभव होगा कि सभी मनुष्य एकही सत्य की अभिव्यक्तियां हैं। यह अनुभव होने पर वह सभी मनुष्यों को स्वाभाविक रूपसे प्रेम करेगा। मानवता को ऐसी आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करना तथा उसे प्राप्त करने में उसकी सहायता करना उसकी सर्वश्रेष्ठ सहायता है।

इस ईश्वरेच्छित, पूर्व–आयोजित दिव्य-विधान-प्रेरित कार्य में अर्थात् मानवता को आध्यात्मिक स्वतंत्रता देने के दिव्य कार्य में, मेरे भक्तों, तुम्हें प्राणों की बाजी लगाकर भी मेरी सहायता करनी है। तुम्हें हर प्रकार के कष्ट तथा बलिदान का स्वागत करना होगा। इस दिशा में जो कार्य करना चाहता हो उसे किस प्रकार करना चाहिये तथा उसकी व्यक्तिगत परिस्थितियों के अनुसार उसके लिए कौनसा कार्य अत्यंत उपयुक्त होगा, इस संबंध में जिन्हें पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता हो, वे मुझसे पत्रव्यवहार करें।

प्रत्येक के लिए विशेष आदेश की आवश्यकता

३.

आध्यात्मिक कार्य–कर्ताओं के लिए कार्य

मुझे हर्ष है कि मेरे आव्हान के उत्तर में तुम सब मेरा संदेश प्राप्त करने के लिए इकट्ठे हुए हो। साधना पथ में शिष्यत्व की मुख्य शर्त है मानवता को ईश्वर–ज्ञान की ओर बढ़ाने के आध्यात्मिक कार्य को करने के लिए कृत–संकल्प तथा तत्पर रहना। मुझे इस बात से प्रसन्नता हो रही है कि मेरे प्रति श्रद्धा तथा प्रेम से प्रेरित होकर, संसार को आध्यात्ममय बनाने के मेरे सार्वलौकिक कार्य में हाथ बटाने के लिए तुम लोगों ने सर्वान्तः–करण से अपने आपको समर्पित कर दिया है; और मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुम लोग, मैं जो सत्य लाया हूं उसके उत्तराधिकारी बनोगे तथा, साथ ही साथ, तुम लोग घोर अज्ञान से आवृत मानवता के उत्साही तथा पराक्रमी पथ–प्रदर्शक भी बनोगे।

मानवता के पथ प्रदर्शक बनो

आध्यात्मिक उन्नति में ही मानवजाति का वास्तविक कल्याण सन्निहित है। अतः आध्यात्मिक कार्य का सर्वोच्च महत्व है। मानवता के प्रेमियों का यह स्वभाविक तथा अनिवार्य कर्तव्य है कि वे मानव–जाति की आध्यात्मिक

सेवा करें। अतः मानव–जाति के सेवकों को यह स्पष्टतः समझ लेना चाहिए कि आध्यात्मिक सेवा का प्रकार क्या है और उसे किस रीति से करना चाहिए। सारा संसार पृथकता के मिथ्या भाव के वशीभूत हो गया है तथा द्वैत के भ्रम में फँस गया है। आध्यात्मिक सेवकों तथा कार्य कर्ताओं का यह कर्तव्य है कि मानव–जाति को द्वैत के काल्पनिक कारागार से मुक्त करें तथा समस्त जीवन की एकता के सत्य का उन्हें ज्ञान कराकर उसके अज्ञान को दूर करें।

आध्यात्मिक कार्य का प्रकार

अनेकत्व के भ्रम का मूल कारण यह है कि आत्मा, अपने अज्ञान के कारण अपने शरीरों तथा अपनी अहंकार–बुद्धि से युक्त हो जाता है। स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर तथा मानसिक शरीरों की अहंकार बुद्धि–द्वैत–जगत् की विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव करने के साधन हैं किंतु आत्मा के वास्तविक स्वभाव का ज्ञान इन साधनों के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। आत्मा का वास्तविक स्वरूप स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक शरीरों और संस्कारों तथा अहंकार बुद्धि से परे है। अपने शरीर तथा अहंकार बुद्धि से युक्त होकर आत्मा अनेकता के अज्ञान में फँस जाता है। समस्त शरीरों तथा समस्त अहंकार-बुद्धियों में व्याप्त आत्मा वस्तुतः एक अविभाज्य सत्ता है; किंतु वह इन शरीरों तथा अहंकार बुद्धियों से, जो केवल उसके उपकरण

अनेकत्व की उत्पत्ति

हैं, युक्त हो जाता है और अपने को सिमित समझने लगता है और इस प्रकार आत्मा अपने आपको एक तथा अद्वितीय समझने की जगह, अनेकों के बीच में अपने को केवल एक समझता है।

अविभक्त तथा अविच्छेद्य परमात्मा ही एक मात्र सत्य है तथा प्रत्येक आत्मा उस परमात्मासे अविभाज्यतः नित्य युक्त है; किंतु आत्मा अपने को विभिन्न शरीर समझकर एकता में अनेकता तथा पृथक्ता की मिथ्या कल्पना करता है। वस्तुतः आत्मा की एकता में किसी भी प्रकार के पार्थक्य के तथा द्वैत के लिए तिल-भर भी स्थान नहीं है। विभिन्न शरीर तथा अहंकार बुद्धियां चेतना के केवल उपकरण या उपादान हैं तथा अपने विभिन्न उपकरणों या उपादानों के द्वारा संसार की विभिन्न भूमिकाओं को अनुभव करने के कारण आत्मा को चेतना की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है।

चेतना की अवस्थाएँ

परमात्मा समस्त जीवात्माओं की एकता तथा वास्तविकता है। परमात्मा और जीवात्मा में वस्तुतः कोई भेद नहीं है किंतु अनेक जीवात्माओं को अपने परमात्म-स्वरूप या अपने परमैश्वर्य का चेतनापूर्वक ज्ञान नहीं है। उनमें ईश्वरानुभूति केवल सुप्तरूपसे विद्यमान है क्योंकि वह उनके द्वारा चेतनापूर्वक अनुभूत नहीं हुआ है। किंतु जिन्होंने द्वैत के बाह्यावरण को उतार

ईश्वरानुभूति

फेंका है उन्हें आत्मा का आत्माके ही द्वारा, बिना किसी उपकरण या उपादान की सहायता के, ज्ञान हो चुका है। इस ज्ञान के द्वारा उन्हें समस्त आत्माओं की एकता तथा वास्तविकता की, अर्थात् परमात्मा की, चेतना पूर्वक अनुभूति हो चुकी है। वे यह अनुभव कर चुके हैं कि उनमें तथा परमात्मा में कोई भेद नहीं है अर्थात् वे ही परमात्मा हैं। इस सर्वैक्य—ज्ञान अर्थात् इस परमात्मानुभूति से समस्त सुख-दुखादि द्वन्दों तथा बंधनों से स्वतंत्रता की प्राप्ति होती है। यह ईश्वरानुभूति अनन्त की सज्ञान घोषणा है कि वह अनन्त है। आध्यात्मिक संपूर्णता तथा स्वतंत्रता की इस अवस्था में अहंकार का विशेष नाश हो चुकता है तथा सत्य के दिव्य जीवन की अनुभूति होती है; इस अवस्थामें एक तथा अद्वितीय ईश्वरसे अपनी एकता का ज्ञान होता है। ईश्वरानुभूति इस सत्य की घोषणा है कि ईश्वर ही एक तथा अद्वितीय सत्य है और हमें सत्य की प्राप्ति के लिए ही जीवित रहना चाहिए।

ईश्वरानुभूति प्राप्त करना अनन्त में निवास करना है,। ईश्वरानुभूति समयशून्य अनुभव है। किंतु सृष्टि की अनेकता के पाश में फँसे हुए तथा समय के बंधन से बांधे हुए जीवात्माओं को मुक्त करना आध्यात्मिक कार्य कहलाता है। सृष्टि में समय का जो तत्व विद्यमान है उसकी उपेक्षा आध्यात्मिक कार्यकर्ता नहीं कर सकते। समय की उपेक्षा करना मानों आध्यात्मिक कार्य

समय का महत्व

की ही उपेक्षा करना है। समय की गति का विवेक-पूर्ण ज्ञान रखना अनिवार्यतः आवश्यक है, तथा निकट भविष्य के उस आनेवाले क्षण के परम महत्व को समझना खास तौर से आवश्यक है। निकट भविष्य के उस शुभ क्षण में समस्त संसार दिव्य आध्यात्मिक ज्ञान की नवीन दीक्षा ग्रहण करेगा।

पीड़ित मानव–जाति को आध्यात्मिक सत्य की नवीन दीक्षा देने के मेरे कार्य में आध्यात्मिक कार्य-कर्ताओं को मेरी सहायता करनी चाहिये। इस आध्यात्मिक सत्य को प्राप्त करने तथा इस सत्य पर आरूढ होने के लिए तुम्हें मनवजाति को तैयार करना होगा। किंतु यह ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक है कि तुम आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने तथा द्वैत के भ्रम से मुक्त होने में औरों की सहायता तभी कर सकते हो जब मिथ्या भेद उत्पन्न करनेवाले तथा आध्यात्मिक कार्य-कर्ताओं को जरा भी अवकाश न देनेवाले लोगों के बीच काम करते समय तुम स्वयं एकता के भाव को भूल न जाओ या छोड़ न बैठो।

आध्यात्मिक कार्य-कर्ताओं को चेतावनी

मैं जो अनन्त जीवन लाया हूं उसकी अनुभूति मनुष्य-गण तभी कर सकते हैं जब वे अपने मस्तिष्क तथा हृदय से सब प्रकार की स्वार्थ-परता तथा संकीर्णता को निकाल कर बाहर फेंक दें। मनुष्यों को स्वार्थ-परता तथा संकीर्णता

आध्यात्मिक कार्य की कठिनाइयां

छोड़ देने के लिए राजी करने का कार्य कोई सरल कार्य नहीं है। धनवान तथा गरीब, पोषित तथा शोषित, शासक तथा शासित, नेता तथा जनता, अत्याचारी तथा अत्याचार पीड़ित, एवं प्रतिष्ठित तथा तिरस्कृत में—मनुष्य-जाति का विभक्त हो जाना कोई आकस्मित दुर्घटना नहीं है। यह भेद-भाव उन लोगों ने पैदा किया है तथा इस भेद-भाव को उन लोगों ने बढ़ाया है जो आध्यात्मिक अज्ञान के कारण इन भेद—भावों पर आसक्त हो गये हैं तथा जिनके विकृत विचार तथा विकृत भाव इतने दृढ हो गये हैं कि उन्हें अपने विकार और भ्रमका पता तक नहीं है। वे जीवन को विभक्त तथा भेद-भावयुक्त देखने के आदी हो गये हैं और इस भेद—भाव एवं पृथक व्यवहार को त्यागने के लिए वे तैयार नहीं हैं। जब तुम अपना आध्यात्मिक कार्य शुरू करोगे तो तुम उन भेद—भावों की दुनिया में प्रवेश करोगे जिनसे मनुष्य बुरी तरह चिपके हुए हैं तथा जिन भेद—भावों को बढ़ाने, कायम रखने, एवं ज्ञान—पूर्वक या अज्ञान—पूर्वक उन्हें चिर-स्थायी रखने की लोग कोशिश करते हैं।

इन भेद-भावों का खंडन करने से ही वे नष्ट नहीं हो जाएंगे। भेदबुद्धि तथा भेद-भावना से ये भेद-भाव बढ़ाये जा रहे हैं। भेद-बुद्धि तथा भेद-भावना प्रेम और ज्ञान के स्पर्श से ही दूर हो सकती है। तुम्हें सत्य के जीवन के

सत्य के लिए उनपर विजय प्राप्त करो

लिए या एकता के जीवन के लिए मनुष्यों के हृदय पर विजय प्राप्त करनी होगी। तुम उन्हें जबरन, जोर जबरदस्ती करके, आध्यात्मिकता की तरफ नहीं घसीट सकते। अपने कार्य में सफल होने के लिए केवल इतनाही काफी नहीं है कि तुम उन मनुष्यों के प्रति शुद्ध मैत्री का भाव रखते हो तथा अपने हृदय से उनकी निर्मल कल्याण-कामना चाहते हो किंतु तुम्हें उनमें यह श्रद्धा तथा विश्वास उत्पन्न करना होगा कि तुम बंधन तथा दुख से मुक्त होने में सचमुच उनकी सहायता कर रहे हो तथा तुम सचमुच ईश्वर की अनुभूति करने में उनकी मदद कर रहे हो। आध्यात्मिक स्वतंत्रता तथा ज्ञान प्राप्त करने में उनकी सहायता करने का और कोई तरीका नहीं है।

आध्यात्मिक कार्यकर्ताओं के लिये सूचनाएं

आध्यात्मिक सहायता देने के लिए तुम्हें निम्न-लिखित चार बातों का स्पष्ट ज्ञान रखना चाहिए।

(१) ऊपरी तौर से निम्नतर सतह में उतरना:—

जिन लोगों की सहायता करने का तुम प्रयत्न करोगे उनकी निम्नतर सतह में बहुधा **ऊपरी तौर से** (दिखाऊ रूप से) उतरने की तुम्हें आवश्यकता होगी। यद्यपि लोगों को उच्चतर सतह पर उठाना तुम्हारा उद्देश्य होगा किंतु यदि तुम ऐसी भाषा में बात करोगे जिसे वे नहीं समझ सकेंगे तो तुम जो कुछ कहोगे उसे वे ग्रहण न कर सकेंगे और न तुम्हारी

बात से वे कोई लाभ उठा सकेंगे। यदि विचार–भावना के द्वारा तुम उनसे ऐसी बात करोगे जो उनकी समझ के बाहर होगी तो तुम्हारी बात का सिर–पैर कुछ भी वे न समझ सकेंगे। तुम्हारी बात को तबतक लोग न समझेंगे जबतक तुम्हारी बात उनकी समझने की योग्यता तथा अनुभव की सीमा के अंतर्गत न होगी। तथापि इस बात का विशेष ध्यान तुम्हें रखना होगा कि लोगों की निम्न बौद्धिक सतह में उतर कर भी तुम्हें अपनी उच्च बौद्धिक सतह पर ही आरूढ़ रहना चाहिए। ज्यों–ज्यों लोगों के ज्ञान में वृद्धि होती जायगी त्यों–त्यों तुम्हें अपनी पद्धति तथा समझाने की रीति बदलनी चाहिए। इस प्रकार नीची सतहपर तुम्हारा ऊपरी तौर से उतरना केवल अस्थायी होगा।

(२) आध्यात्मिक ज्ञान से सर्वांगीण उन्नति होती है:—

जीवन को विभिन्न विभागों में विभक्त करके, किसी एक विशिष्ट भाग को अपनाकर केवल उसी भाग तक अपने कार्य को तुम्हें सीमित नहीं कर लेना चाहिए। एकांगी विचार बहुधा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति में बाधक सिद्ध होता है। अतः यदि तुम जीवन को राजनीति, शिक्षा, नैतिकता, भौतिक उन्नति, विज्ञान, कला, धर्म, रहस्यवाद, तथा संस्कृति इत्यादि खंडो में विभक्त कर दोगे तथा अन्य भागों का बहिष्कार करके केवल किसी एक भाग का विचार करोगे तो जीवन समस्याओं

का जो तुम सुलझाव पेश करोगे वह न तो संतोषजनक होगा और न अंतिम होगा। किंतु यदि तुम आध्यात्मिक उत्साह तथा ज्ञान जाग्रत करने में सफलता प्राप्त करोगे तो जीवन के इन विभिन्न भागों में स्वतः तथा सहज ही उन्नति होगी। आध्यात्मिक कार्यकर्ताओं के नाते तुम्हें समस्त वैयक्तिक तथा सामाजिक समस्याओं का सर्वांगीण तथा वास्तविक हल पेश करना होगा।

(३) आध्यात्मिक उन्नति अंदर से ज्ञान के सहज-रूप से प्रस्फुटित होने में सन्निहित है :—

आध्यात्मिक कार्यकर्ताओं के नाते तुम्हें यह बात भी याद रखनी चाहिए कि तुम जो आध्यात्मिक ज्ञान लोगों को देना चाहते हो वह पहले से ही सुप्त रूप से उनमें विद्यमान है और उस आध्यात्मिक ज्ञान का उद्घाटन करने में तुम्हें केवल निमित्त बनना है। आध्यात्मिक उन्नति का अर्थ बाहर से संग्रह करने में सन्निहित नहीं हैं; अंदर से विकसित होने के क्रम का नाम आध्यात्मिक उन्नति है। आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है। गुरु जो सहायता देता है उसका महत्व यह है कि वह लोगों के भीतर प्रसुप्त उनकी स्वयम् की संभावनाओं को जाग्रत करने में एक साधन बनता है।

(४) प्रश्नों के उत्तर देने की अपेक्षा कुछ प्रश्न पूछना अधिक महत्व-पूर्ण सिद्ध होता है:—

आध्यात्मिक कार्यकर्ताओं के नाते तुम्हें उस वास्तविक कार्य को नहीं भूल जाना चाहिए जो गुरु तुम्हारे द्वारा करना चाहता है। जब तुम स्पष्टतः यह समझ लेते हो कि आध्यात्मिक ज्ञान सभी मनुष्यों में प्रसुप्त है तो तुम्हें औरों को स्वनिर्धारित तथा स्वनिर्मित उत्तर एवं सत्यभाव प्रदान करने की जल्दबाजी तथा फिक्र नहीं करनी चाहिए। अनेक अवसरों पर तुम्हारे लिए इतनाही पर्याप्त होगा कि तुम एक नई समस्या पेश कर दो अथवा जो समस्या उनके सामने उपस्थित हो उस समस्या को तुम स्पष्ट कर दो और इस प्रकार उन समस्याओं को स्वतंत्र रूपसे हल करने के लिए तुम लोगों को स्वतंत्र छोड़ दो। तुम यदि लोगों को एक ऐसा प्रश्न पूछ दोगे जो प्रश्न किसी व्यावहारिक परिस्थिति में पड़ कर वे स्वयं नहीं पूछते, तो तुम्हारा कर्तव्य पूरा हो जायगा और कुछ लोगों से यदि तुम ऐसा प्रश्न पूछोगे जिसके उत्तर की वे खोज करने लगे तथा जिसे समझने के लिए वे उत्कंठित हो उठें और जिसके परिणाम-स्वरूप वे अपनी समस्याओं को ठीक ढंग से हल करना आरंभ करके कोई लाभदायक तथा रचनात्मक कार्य करने लग जायें तो तुम्हारा कर्तव्य पूरा हो जायगा। लोगों में गंभीर दृष्टिकोण उत्पन्न करना अथवा किसी लाभदायक विचार या कार्य की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कर देना, अपनी विचार-धारा या अपनी बुद्धि का निर्णय उनमें ठूंसने या उनपर लादने की अपेक्षा कहीं अधिक लाभदायक

तथा हितकर है। स्वतंत्र रूपसे स्वयं उत्तर की खोज के लिए तुम जो प्रश्न पूछो वह केवल सिद्धांतिक तथा अनावश्यक रूपसे कठिन और जटिल न हो। यदि तुम्हारे प्रश्न सरल, सीधे, उपयोगी तथा मौलिक होंगे तो ये प्रश्न स्वयं उत्तर देंगे तथा मनुष्य अपनी समस्याएं स्वयं हल कर लेगा। इस प्रकार उनकी सेवा करने का तुम्हारा कर्तव्य पूरा हो जायगा क्योंकि तुम्हारी बुद्धिमत्ता—पूर्ण **मध्यस्थता** के बिना आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अपनी अनेकों समस्याओं को सुलझाने में वे समर्थ न हुए होते।

कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना

यह देखा गया है कि आध्यात्मिक कार्यकर्ताओं को आवश्यक रूपसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है; किंतु कठिनाइयां इस लिए आती हैं कि इन पर विजय प्राप्त की जाय। कुछ कठिनाइयां अजेय-सी दिखाई देती हैं किंतु फलों और परिणामों की चिंता किये बिना तुम्हें यथाशक्ति औरों की सहायता करनी चाहिए। एकता के अनन्त राज्य में, कठिनाइयां और उनपर विजय प्राप्त करना, सफलता तथा असफलता—इत्यादि केवल भ्रम हैं। यदि सर्वान्तःकरण से तुम अपना कार्य करते हो तो तुम्हारा कार्य स्वतः पूर्ण है ऐसा समझना चाहिये। मानवता को एकमात्र सत्य ईश्वर का ज्ञान प्रदान करने के मेरे आध्यात्मिक कार्य में मेरी सहायता करने की तुम्हारी दृढ़ तथा अनन्य

इच्छा है अतः आध्यात्मिक कार्य के लिए तुम्हें अनेक मौके मिलेंगे। आध्यात्मिक दिशा में कार्य करने के लिए विस्तृत क्षेत्र है। मुझे पूरा विश्वास है कि इस कार्य के लिए तुम बिना हिचकिचाहट के अपना आत्म—समर्पण करोगे और इस कार्य को सफलता—पूर्वक तुम तभी कर सकोगे जब तुम निष्कपट भावसे उन आध्यात्मिक आदेशों का पालन करोगे जो तुम्हें अलग से दिये जायेंगे।

आध्यात्मिक कार्य का परिणाम

सफलता या असफलता की ओर ध्यान दिये बिना तथा परिणामों के संबंध में चिंता किये बिना तुम्हें अपना कार्य दृढतापूर्वक करते जाना चाहिए; किंतु यह निश्चय रखो कि ऐसे ज्ञान और ऐसी अनासक्ति के साथ जो कार्य किया जायेगा उसका परिणाम अवश्यंभावी है। **आध्यात्मिक कार्यकर्ताओं के अविश्रांत कार्यों के द्वारा मानवता अमर शांति, तथा विकासशील बौद्धिक ऐक्य, अजेय श्रद्धा तथा अक्षर आनन्द, अविनश्वर माधुर्य तथा निर्मल पवित्रता, विधायक प्रेम तथा अनन्त ज्ञान के नवीन जीवन में प्रवेश करेगी।**

४.

सत्य की अनन्तता

आध्यात्मिक मूल्य-निरूपण में भूल की उत्पत्ति

अनेक मनुष्यों की यह धारणा होती है कि आध्यात्मिक महत्ता का दावा करनेवाली वस्तु आवश्यक रूप से सांसारिक दृष्टिकोण से बहुत बड़ा तथा बहुत विशाल होनी चाहिए। वे समझते है आध्यात्मिक महत्व रखनेवाले कार्य का कोई व्यापक बाह्य परिणाम होना चाहिए, या उस कार्य का जीवन के अत्यंत विस्तृत क्षेत्र पर प्रभाव पड़ना ही चाहिए। ऐसे लोग किसी कार्य का मूल्य उस कार्य के फल और बाह्य परिणाम को देखकर निर्धारित करते है। **मनुष्य प्रायः स्थूल जगत की वस्तुओं में इतना मग्न हो गया रहता है, कि वह प्रत्येक कार्य को अचेतनतः स्थूल आकार, मात्रा, तथा स्थूल गुण के माप दंड से मापता है।** किसी कार्य का उस कार्य के बाह्य परिणाम के विस्तार से मूल्य निरूपण करने के कारण, वह आध्यात्मिक कार्य के महत्व को नहीं समझ पाता तथा आध्यात्मिक कार्य का यथार्थ मूल्य निरूपण नहीं कर सकता।

मनुष्य के मनपर गणितविषयक विचारों का प्रभुत्व हो जाता है और यही कारण है कि आध्यात्मिक कार्य के महत्व को समझने में उसके मनमें बहुतसी उलझने पैदा हो जाती हैं। जो कार्य आध्यात्मिक दृष्टि से महान् हैं वह प्रकार में उस वस्तु से भिन्न है जो गणित की दृष्टि से महान् हैं। स्थिर तथा एक ही समान मूल्य या महत्व रखनेवाली प्रत्येक इकाई एवं घटक (unit) की अनन्त संख्या के संग्रह की कल्पना से, अनन्तता के गणनात्मक विचार की सृष्टि हो जाती हैं; किंतु ऐसी गनणात्मक अनन्तता यथार्थ में कल्पना की पहुंच के बाहर की वस्तु है, क्योंकि ऐसी किसी भी संख्या की कल्पना करने पर भी, एक ऐसी संख्या की भी कल्पना की जा सकती हैं, जो उस कल्पित संख्या से भी बड़ी होगी। तथा **प्रत्येक इकाई एवं घटक मिथ्या साबित होगी, यदि उसका पृथक तथा अन्य इकाईयों से अलग महत्व और अस्तित्व समझा जायगा।** अनन्तता का गणनात्मक विचार भ्रांत अनुमानों की कल्पना का परिणाम सिद्ध होता है।

गणितात्मक अनन्तता

आध्यात्मिक अनन्तता मिथ्या के काल्पनिक योग का परिणाम नहीं है; वह स्वयम् वह सत्य है जो मिथ्या कल्पना के समाप्त होने पर अनुभूत होता है। सत्य की अनन्तता किसी योग से न तो वृद्धि को प्राप्त हो सकती है; और न

किसी ऋण से दास को प्राप्त हो सकती है। सच बात तो यह है कि उसमें न कुछ जोड़ा जा सकता है और न उससे कुछ घटाया जा सकता है क्योंकि वह सर्व व्यापक है, सब कुछ उसके अंतर्गत है, उसके भीतर सब कुछ सम्मिलित है; उसके अतिरिक्त दूसरे के लिए कहीं जगह नहीं हैं; उसकी सत्ता में छोटा तथा बड़ा सब कुछ समाविष्ट है। वह न नापा जा सकता है, न तोला जा सकता हैं, और न उसके टुकड़े हो सकते हैं। वह स्वयं संपूर्ण है।

आध्यात्मिक अनन्तता

संसार में जो परिवर्तन होते है उसका सत्य की अनन्तता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। संसार में जो कुछ भी होता है वह केवल बाह्य और दृष्य अतः सत्य के दृष्टिकोण से वह शून्य के सदृश है। संसारी मनुष्य भूकंप को अत्यंत भयंकर तथा घातक विपत्ति समझता है क्योंकि भूकंप से धन तथा जन का घोर संहार होता है। किंतु ऐसी विपत्ति भी अनन्त सत्य को किसी प्रकार छू नहीं सकती। समस्त संसार का लोप हो जाने पर भी सत्य की अनन्तता को क्षतिथा हानि नहीं पहुंचती और वह किसी प्रकार भी सीमित नहीं होती। **अतः महान्–संबंधी सांसारिक मानदंड से अनन्तता की माप-तोल करना व्यर्थ है।**

अनेक साधकों की जो भ्रांत धारणा होती है और जिस भ्रम से मुक्त होना उनके लिए कठिन होता है वह उनका

यह विश्वास है कि अनन्त सत्य वह पदार्थ है जो किसी सुंदर भविष्य में प्राप्त किया जायगा और सारा जीवन इस प्राप्ति का केवल एक साधन हैं। किंतु यदि सत्य सिर्फ भविष्य तक सीमित होता और भूतकाल तथा वर्तमान काल से उसका कोई संबंध न होता; तो वह अनन्त नहीं होता, वह समय में उत्पन्न होने वाली एक घटना होने के नाते सीमित हो जाता। **जीवन जो कुछ है तथा जो कुछ उसका अस्तित्व है, वह मौलिक महत्व से एकदम वंचित हो जाता है, यदि उसे किसी सुदूरवर्ती घटना की प्राप्ति का कोरा एक साधन मान लिया जाता है।** यह निःसंदेह एक गलत दृष्टिकोण है।

आध्यात्मिक अनन्तता कोई भविष्य वर्ती लक्ष्य नहीं हैं।

जीवन का यह अर्थ नहीं हैं कि किसी सुदूरवर्ती आगामी तिथि में आध्यात्मिक महत्ता प्राप्त की जाय, किंतु प्रत्येक क्षण आध्यात्मिक महत्ता प्राप्त करना ही असली जीवन है। **स्पष्ट तथा शांत चित्त के ही द्वारा आध्यात्मिक अनन्तता का वास्तविक स्वरूप समझा जा सकता हैं। आध्यात्मिक अनन्तता वह नहीं हैं, जो होने को हैं। आध्यात्मिक अनन्तता वह है, जो हो रही है, तथा जो रहेगी। असीम स्वयं संपूर्णता थी, जब प्रत्येक क्षण आध्यात्मिक महत्ता से संपन्न होता है, तो न तो मृत**

वर्तमान क्षणमें अनन्तता का अनुभव

अतीत के प्रति कोई संबंध तथा आसक्ति रहती है, और न आगामी भविष्य के प्रति कोई आकांक्षा और अपेक्षा, किंतु कालातीत अनन्त वर्तमान में निरंतर निवास। अनन्त वर्तमान में संपूर्ण रूप से निरंतर निवास करने पर ही सत्य की अनन्तता का जीवन में अनुभव किया जा सकता है।

अस्तित्व की संपूर्णता

वर्तमान को भविष्य का मुखापेक्षी बनाकर उसे महत्व-शून्य बनाना ठीक नहीं है; इस मुखापेक्षीता का अर्थ यह होगा कि जो वस्तु है उसके सच्चे महत्व की अनुभूति तथा ज्ञान प्राप्त करने के बदले कल्पित भविष्य में ही समस्त महत्व का काल्पनिक संग्रह केंद्रित करना। **अनन्तता में ज्वार तथा भाटा नहीं होता रहता। अनन्तता में दो घटनाओं के बीच कोई अर्थशून्य विश्राम नहीं होता। अनन्तता अस्तित्व की वह संपूर्णता है, या जिसका एक क्षण भी हीनता या अर्थशून्यता से पीड़ित नहीं होता।** जब जीवन रिक्त तथा सुना मालूम होता है, तो सत्य की अनन्तता में किसी अभाव या रिक्तता के कारण ऐसा मालूम नहीं होता, किंतु अनन्तता के पूर्ण अधिकार में प्रवेश करने की अपनी असमर्थता के कारण ही ऐसा मालूम होता।

जिस प्रकार किसी अपेक्षित भविष्य के लिए समस्त आध्यात्मिक महत्व संग्रहीत कर रखना ठीक नहीं है, उसी

प्रकार खूब कोलाहल उत्पन्न करनेवाली घटना को ही समस्त आध्यात्मिक महत्व प्रदान करना भी उचित नहीं हैं। जीवन की बड़ी तथा महान् घटनाएं ही आध्यात्मिक महत्व से संपन्न नहीं हैं। आध्यात्मिक महत्ता से संपन्न होने के लिए किसी कार्य का असाधारण या **खास तौर** से आकर्षक होना **जरूरी** नहीं हैं। असाधारण तथा आकर्षक का अस्तित्व साधारण तथा अनाकर्षक के संबंध से है, उनका स्वतंत्र रूपसे कोई आध्यात्मिक सौंदर्य नहीं हैं। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से किसी कार्य के महान् होने के लिए यह आवश्यक नहीं हैं कि मनुष्य बहुत बड़ा धन किसी लोगोपकार के कार्य के लिए देने के योग्य होवे। एक गरीब आदमी ऐसा करने में समर्थ न होकर भी अपने सामर्थ्य के अनुसार कुछ देकर भी आध्यात्मिक दृष्टि से महत्व-पूर्ण कार्य करता है। **देन की मात्रा से देने की आध्यात्मिक महत्ता निश्चित नहीं होती; जिस भाव से देन दी जाती है, उस भाव से उस देन की आध्यात्मिक महत्ता निश्चित होती है।** वस्तुतः बड़ा भारी दान बहुधा अभिमान तथा स्वार्थ की भावना से दिया जाता है और ऐसा दान आध्यात्मिक महत्व खो बैठता है; तथा नम्रता और पूर्ण निःस्वार्थ प्रेम से दी जाने वाली छोटीसी भेट का अत्यंत अधिक आध्यात्मिक महत्व हो उठता है।

बड़ी तथा महान घटनाएं

आध्यात्मिक जीवन परिणामों और मात्राओं का विषय नहीं,

हैं। आध्यात्मिक जीवन के मौलिक गुण का नाम है। आध्यात्मिक अनन्तता के अनन्त विस्तार में जीवन के समस्त क्षेत्र सम्मिलित हैं। बड़े कार्य तथा छोटे कार्य, सभी कार्य उसके अंतर्गत है। **आध्यात्मिक अनन्तता महानतम से भी लघुतर है; और वह बाहर से बड़े दिखने वाले कार्य में, तथा बाहर से छोटे दिखने वाले कार्य में, समानतः अभिव्यक्त हो सकती है।** सत्य की चेतना से निःसृत होने वाली मुसकान या दृष्टिपात, का उतना ही आध्यात्मिक महत्व है जितना किसी कार्य के लिए प्राण लगना। **अनन्त के प्रकाश में जब सारा जीवन व्यतीत किया जाता है, तब उसमें अश-भेद या श्रेणी-भेद के लिए स्थान नहीं रहता।** यदि केवल बड़ी घटनाओं से ही जीवन का निर्माण हुआ होता, तथा उसके क्षेत्र से समस्त छोटी घटनाएं निकाल बाहर कर दी जातीं, तो ऐसा जीवन अनन्त तो कभी होता ही नहीं, बल्कि वह अत्यंत दीन-दरिद्र जीवन होता। प्रत्येक वस्तु में व्याप्त तथा सुप्त अनन्त अपने को तभी व्यक्त कर सकता है, जब समस्त जीवन को समष्टि के दृष्टिकोण से देखा और स्वीकार किया जाय।

आध्यात्मिक अनन्तता के भीतर दीर्घ तथा लघु दोनों समाविष्ट हैं

अहंकार-केंद्रित इच्छाओं तथा स्वार्थ के कारण बंधन तथा ससीमता का अनुभव होता है। **सभी प्रकार की संग्राहक (Possessive) वृत्ति के कारण जीवन सीमाबद्ध हो**

अद्वैत की स्वतंत्रता तथा आनंद

जाता है। उदाहरणार्थ यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रेम को लुब्ध-दृष्टि से देखता है, और वह प्रेम उसके बजाय किसी दूसरे व्यक्ति को प्राप्त है, तो परिणाम यह होता है कि उस प्रेम को वह स्वयं तो पा नहीं जाता, किंतु स्वयं उसके आत्मा का जीवन संकीर्ण हो जाता है, तथा उसकी खुद की चेतना का मानों दम घुटता है, और उसे बद्धता की तीव्र वेदना का अनुभव होता है। इस प्रकार, दम घोटनेवाली ईर्ष्या का जन्म होता है। किंतु **अगर यही प्रेम लालसा और लोभ से रिक्त हृदय द्वारा देखा जाता है, तो दूसरे को मिलने वाले प्रेम के स्वाभाविक सौंदर्य का दर्शन होता है; तथा अधिकार वृत्ति के अभाव से चेतना की जो स्पष्टता तथा निर्मलता उत्पन्न होती है, उनसे उसे अद्वैत की स्वतंत्रता का रसास्वाद प्राप्त होता है, तथा अद्वैत का आनन्द भी प्राप्त होता है।** दूसरे व्यक्ति का वह प्रेम प्राप्त करना अपने स्वयं का वह प्रेम प्राप्त करना सा लगेगा। वह किसी एक रूपसे बंधा नहीं रहता, किंतु समस्त रूपों से अभिव्यक्त होने वाले जीवन से उसका तादात्म्य हो जाता है।

अद्वैत में समस्त सीमाओं से मुक्ति मिल जाती है। अद्वैत में प्रत्येक वस्तु की वास्तविकता तथा उसकी यथार्थ स्थिती का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। **अद्वैत में ही सच्ची**

आध्यात्मिक अनन्तता की अनुभूति होती है, जिससे स्थायी तथा अपार आनन्द प्राप्त होता है। ईर्ष्या से जो ससीमता तथा बद्धता का अनुभव होता है, वैसी ही सीमता तथा बद्धता का अनुभव क्रोध घृणा तथा तृष्णा से भी होता है। **समस्त सीमाबद्धता अहंकार तथा स्वार्थ से उत्पन्न होती है, तथा अहंकार और स्वार्थ के परित्याग से, जो वास्तव में है, उसके अनन्त महत्व का ज्ञान प्राप्त होता है।**

अद्वैत के द्वारा आध्यात्मिक अनन्तता प्राप्त करना

अद्वैत के दृष्टिकोण से सत्य की अनन्तता को ठीक से समझने पर मालूम होगा कि वह सामाजिक समस्याओं के समुचित रीति से सुलझा सकती है। द्वैत को एक अनिवार्य सत्य समझने वाले दृष्टिकोण के द्वारा सामाजिक समस्याएं कदापि नहीं सुलझायी जा सकती। संस्थाओं को सिर्फ व्यवस्थित कर देने से फिर चाहे यह व्यवस्था कितनी ही निपुणता से न की जाय—व्यक्ति और समाज के बीच में कोई सही व्यवस्था की उत्पत्ति नहीं हो जायगी और न ऐसी व्यवस्था से समाज के अंतर्गत मौजूद विभिन्न दलों के बीच कोई सच्ची एकता की स्थापना होगी।

सामाजिक समस्याओं के लिए आध्यात्मिक अनन्तता का अर्थ

यदि एक लघु अल्प संख्या के हितों को ध्यानमें रखकर कोई सामान्य सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जायगी

अल्प संख्या तथा बहुसंख्या

तो विशाल बहुसंख्या के हित की पूर्ति नहीं होगी तथा बहुसंख्या अल्प संख्या के प्रति अनिवार्य रूप से प्रतिद्वन्द्विता तथा शत्रुता का बर्ताव करेगी। इसके विपरीत जैसा कि प्रजातंत्र-वादी देशों में होता है, बहुसंख्या के हितों को ध्यान में, रखकर सामान्यतः सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जाती है। किंतु यह दृष्टिकोण अद्वैत की ही सीमा के अंतर्गत रहता है—जहां बहुत का अस्तित्व रहता है; अतः अल्प संख्या के लोगों की समस्या नहीं सुलझती तथा उनका हित अपूर्ण रहता है। इस प्रकार अल्पसंख्यक के लोग अनिवार्य रूपसे बहुसंख्यक लोगों से बैर तथा विरोध करते है।

जब सामाजिक समस्या, संख्याओं तथा अनेकता के विचार से सुलझाई जायगी, तबतक स्थायी रूपसे वह नहीं सुलझेगी। सामाजिक समस्या का स्थायी हल तभी होगा जब **अविभाज्य समष्टि** (Indivisible Totality) तथा **समस्त की एकता** के दृष्टिकोण से वह सुलझायी जाय। **सबों में जो एक है उससे, अनेक को गुना करने से संपर्क स्थापित नहीं किया जा सकता—अनेक का मिथ्या विचार त्यागने से ही, उससे संपर्क स्थापित किया जा सकता है। कोई भी संख्या, चाहे वह कितनी भी बड़ी संख्या क्यों न हो—सान्त होगी। आध्यात्मिक अनन्तता कोई संख्या नहीं है;**

अविभाज्य समष्टि

वह एक मात्र तथा अद्वितीय सत्य है, जिसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं।

जहां अनेक है, वहां आवश्यक रूपसे उनमें तुलना होगी, वहां अल्प-संख्या तथा बहु संख्या होगी, उनमें दावे, अधिकार, हक़ तथा विशेष-सुविधाओं के सवाल होंगे, श्रेणीकरण तथा वर्गीकरण से एकता ही नष्ट हो जाती है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से श्रेणी तथा वर्ग मिथ्या भ्रम के रूप है। सत्य प्रत्येक व्यक्ति में स्पंदित होता है। एकता की यह अनुभूति समानता के सिद्धान्त से भिन्न है। समानता के सिद्धान्त के अनुसार एक मनुष्य दावे, अधिकार तथा महत्व में किसी दूसरे एक मनुष्य के समान है, किंतु वह दावे, अधिकार, तथा महत्व में दो मनुष्यों के समान कदापि नहीं हो सकता।

अनेक का संसार

इसके विपरीत आध्यात्मिक अनन्तता में इस असत्या-भास के लिए स्थान है कि एक मनुष्य समष्टि समझा जा सकता है। अतः एक व्यक्ति महत्व में दो या, दो से अधिक मनुष्यों के ही समान नहीं हैं किंतु महत्व में सभी से समान है। **आध्यात्मिक अनन्तता में किसी भी प्रकार की तुलना के लिए स्थान नहीं है, लघुतर या दीर्घतर कुछ भी नहीं हैं; दावों, अधिकारों तथा हक़ों का छोटापन या बड़प्पन के लिए गुंजाइश नहीं हैं।** प्रत्येक

प्रत्येक तथा सभी में रही एक

में तथा सभी में एक के निर्विकार दर्शन के कारण, प्रत्येक तथा समस्त के महत्व में किसी भूल के लिए स्थान नहीं रहता क्योंकि सृष्टि में प्रत्येक प्राणी तथा प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक अनन्तता के अंतर्गत रहती है। यही नहीं बल्कि प्रत्येक व्यक्ति ही अविभाज्य आध्यात्मिक अनन्तता होता है, अतः प्रत्येक व्यक्ति महत्व में सर्वप्रथम है तथा कोई भी द्वितीय नहीं है।

सामाजिक जीवन में सत्य की अनन्तता की स्वीकृति व्यक्तिवाद तथा समूहवाद दोनों के लिए एक चुनौती होगी।

नवीन सभ्यता

अविभाज्य समष्टिवाद के दृष्टिकोण से विचार करने की एक नयी विचार पद्धति की उत्पत्ति होगी। **प्रत्येक वस्तु के मौलिक महत्व को स्वीकार करने के पक्ष में वह तुलनात्मक सापेक्ष महत्व को त्याग देगी।** सत्य की आध्यात्मिक अनन्तता के सच्चे विचार की नींव पर आश्रित सभ्यता में, बहुसंख्यक लोगों तथा अल्पसंख्यक लोगों की समस्या न रहेगी, प्रति द्वन्द्विता तथा प्रतिस्पर्धा की समस्या न रहेगी। तुलनाओं तथा श्रेष्ठता हीनता का भेदभाव न रहेगा, जिससे अहंकार तथा अहन्मन्यता को आश्रय मिलता है। इस नवीन सभ्यता में जीवन अनन्त गुना सरल तथा संपूर्ण होगा क्योंकि वैषम्य, पार्थक्य भेद उत्पन्न रखनेवाले भ्रम इस जीवन में पहिले ही चुके होंगे।

५.

आध्यात्मिक उन्नति की गतिप्रक्रिया

जब संसारासक्त मनुष्य के दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन हो जाता हैं तभी उसकी आध्यात्मिक उन्नति शुरू होती है।

उच्चतर जीवन के लिए शरीर को वश में रखना

संसारासक्त मनुष्य शरीर के लिए जीता है। उसके कुछ उद्योग ऐसे भी होते हैं जिनका शरीर से कोई सीधा संबंध नहीं मालूम होता किंतु विश्लेषण करने पर ज्ञान होता है कि उसके ऐसे उद्योग भी शरीर से संबंध रखने वाली इच्छाओं से प्रेरित होते हैं। जैसे वह खाने के लिए जीता है; वह जीवित रहने के लिए खाता नहीं हैं। शारीरिक भोग से भी उच्चतर जीवन है यह वह नहीं जानता; अतएव शारीरिक सुख तथा शारीरिक आमोद-प्रमोद ही उसके समस्त उद्योगों के लक्ष्य होते हैं। किंतु जब उसे यह ज्ञात होता है, कि शरीर से भी सारवान वस्तु आत्मा है तब वह आत्मा को प्रधान तथा शरीर को गौण महत्व देने लगता है। अब वह शरीर को साधन मानता हैं, तथा उच्चतर जीवन की अनुभूति में उसे सहायक मानकर वह उसकी रक्षा करता है। **उसका जो शरीर अबतक सच्चे आध्यात्मिक जीवन का विघ्न**

था, वह अब उस जीवन की अभिव्यक्ति के लिए एक उपकरण बन जाता है, अर्थात् आध्यात्मिक जीवन का अनुभव करने के लिए वह शरीर पर संयम करता है। उसके दृष्टिकोण में जब यह परिवर्तन हो जाता है तब फिर उसके शरीर की बाधकता उत्तरोत्तर कम तथा उसकी सहायता उत्तरोत्तर अधिक होती जाती है। इस स्थिति में वह शरीर की आवश्यकताएं देहात्मभाव की आसक्ति—पूर्ण भावना से पूरी नहीं करता, किंतु वह उसकी आवश्यकताओं को उसी भाव पूर्ण करता है, जिस भाव से ड्राइव्हर रेल्वे एंजिन में पानी और कोयला भरता है, ताकि वह बराबर चलता रहे।

लक्ष्य की खोज

मनुष्य यह प्रश्न करता है, कि मानव-जीवन का अंतिम लक्ष्य क्या है? **किस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अज्ञात-भाव से प्रेम तथा घृणा करता है? किस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह नाना सुखों और दुःखों का अनुभव करता है?** जीवन के अंतिम लक्ष्य की खोज के साथ ही साथ आध्यात्मिक उन्नति आरंभ होती है। यद्यपि अपनी भवितव्यता के दुर्बोध्य तथा प्रबल आकर्षण से उसका जीवन आंदोलित हो जाता है, और जीवन का अंतिम लक्ष्य उसे अपनी ओर बलात् खींचता है, जिसके परिणाम स्वरूप वह उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए खोज शुरू कर देता है, तथापि सत्यानुभूति के पर्वत के उच्चतम शिखर पर पहुंचने में उसे बड़ा लंबा समय लग

जाता है। उसे मानों पर्वत की खडी दीवार पर चढ़ना पड़ता है। पग-पग पर उसे गिरने और फिसलने का डर रहता है। सत्य उत्तुंग शिखर तक पहुंचने का जो लोग प्रयत्न करते है उन्हें एक उंचाई के बाद दूसरी उंचाई पार करनी पड़ती है, उन्हें एक चढ़ाई लाँघ लेनेपर दूसरी चढ़ाई लाँघना पड़ती है। **काफी बड़ी उंचाई पर चढ़ने में यदि कोई मनुष्य सफल हो भी जाता है, तो भी उसके गिरने का डर बना रहता है; एक जरासी भूल उसने की, कि वह धडाम से नीचे गिर जाता है, और उसी स्थान से उसे फिर चढना पडता है जिस स्थान से उसने पहिले चढ़ना शूरु किया था।** अतः साधक तब तक सुरक्षित नहीं रहता, जब तक उसे गुरू का पथ-प्रदर्शन नहीं प्राप्त होता। गुरू लक्ष्य स्थान को पहुंच चुका रहता है। पथ की विश्व-बाधाओं, कंटक कठिनाईयों तथा शिला-चट्टानों का उसे पूरा ज्ञान रहता है, अतः वह साधक को गिरने-ठकराने से बचा सकता है, तथा पथ के संकटों और कंटकों से उसकी रक्षा करता हुआ, वह उसे लक्ष्य-स्थान तक पहुंचा सकता है।

उन्नति का अवरुद्ध होना

लक्ष्य-स्थान को पहुंचने के लिए सन्नद्ध साधक अपने साथ पूर्व जन्म संचित संस्कार-राशि को लेकर चलता है। उसकी आध्यात्मिक आकांक्षा की तीव्रता के कारण कुछ समय के लिए उसके संस्कारों का बल कम हो जाता है तथा उनका प्रभाव घट जाता है। किंतु बारंबार, जब जब

आध्यात्मिक प्रयत्न में शिथिलता आती है, तब तब ये संस्कार फिर प्रबल हो उठते है; कार्य में परिणत होने वाले रूके हुए संस्कार पुनः उत्तेजित हो उठते है, **नवीन शक्ति लेकर** वे **फिर साधक के सम्मुख आ डटते हैं, और इस प्रकार उसकी आध्यात्मिक उन्नति अवरुद्ध हो जाती है।**

नदी के सादृश्य से यह बात स्पष्ट हो जायगी। नदी की प्रबल धारा अपने उद्गम–स्थान तथा तटों से ढेरों मिट्टी बहाकर लाती है। जब तक यह मिट्टी नदी की तेज धार में धुल गयी रहती है, तथा धार के साथ साथ बहती रहती है तबतक वह नदी के प्रवाह में रूकावट पैदा नहीं करती, भले ही वह उसके वेग को धीमा कर दे। किंतु ज्यों ही मैदान में या विशेषकर नदी के गिरने के स्थान के पास, उसकी धारा का वेग बहुत धीमा हो जाता है, त्यों ही मिट्टी का ढेर नीचे जमने लग जाता है। परिणामतः बड़े–बड़े द्वीप तथा डेल्टा बन जाते है। ये द्वीप तथा डेल्टा न केवल नदी की धारा को रोकते हैं किंतु उसकी दिशा बदल देते हैं या उसे छोटी छोटी अनेक धाराओं में विभक्त कर देते हैं। इन द्वीपों या डेल्टाओं के कारण प्रबल नदी की पहले की शक्ति कमजोर हो जाती है। फिर जब नदी में बाढ़ आती है, तो वह वृक्षों, झाड़ियों, कूड़ा–कचरा, मैल-मिट्टी आदि को बहा ले जाती है; किंतु ये पदार्थ ज्यों ही फिर जमा होते है त्योंही वे फिर नदी के

नदी का सादृश्य

प्रवाह को अवरूद्ध कर देते हैं। **ठीक इसी प्रकार, अपने ही द्वारा उत्पन्न की हुई रूकावटों के कारण आध्यात्मिक उन्नति का पथ बहुधा अवरूद्ध हो जाता है; और ये रूकावटें गुरू की सहायता से दूर की जा सकती है।**

अहंकार का नष्ट होना अत्यंत जरूरी है

गुरू की सहायता अत्यंत प्रभाव-पूर्ण तभी सिद्ध होती है जब साधक अपने अहंकारमय जीवन का परित्याग करके गुरूके अहंकार-रहित अनन्त जीवन को अपने अंदर प्रवाहित होने के लिए खुला मार्ग छोड़ देता है। पूर्ण शरणागति अत्यंत कठिन कार्य है। तथापि आध्यात्मिक उन्नति की वह सबसे आवश्यक शर्त है। शरणागति के बिना अहंकारमय जीवन का नाश नहीं हो सकता, तथा अहंकार का अंत हुए बिना अनन्तता की प्राप्ति नहीं हो सकती। बहुत ज्यादा कार्य आध्यात्मिक उन्नति का अभिप्राय नहीं हैं। आध्यात्मिक जीवन का अभिप्राय ऐसा जीवन व्यतीत करना है, जो अहंकारिक चेतना से सीमित न रहे। साधक में भले ही अनेक भव्य तथा महान कार्य करने की क्षमता हो, भले ही उसमें उच्च गुण तथा बड़ी बड़ी योग्यताएं हों किंतु यदि वह अपने कार्यों, गुणों तथा योग्यताओं से आसक्त है, यदि उसका 'मैं' का मोह दूर नहीं हुआ, तथा 'मेरा' की ममता नष्ट नहीं हुई है, तो उसका यह अहंकार अनन्त जीवन की प्राप्ति में एक भीषण—बाधा है। यही कारण है कि अहंभाव-

प्रेरित लोकाचार, विधि-अनुष्ठान, पूजा-पाठ दान-परोपकार तथा बाह्य त्याग और तपस्याएं व्यर्थ है।

दुविधा

अतः यह अत्यंत आवश्यक है कि साधक 'मैं यह करता हूं,' तथा 'मैं वह करता हूं'— ऐसे विचारों से बिलकुल मुक्त रहे। इसका यह अर्थ नहीं है कि इस प्रकार के अहंभाव के बढ़ने के डर से साधक समस्त कार्यों से ही अपने को अलग कर ले। पहले ही से बढे हुए अपने अहंकार को जीर्ण करने के लिए उसे कार्य करना ही पडेगा। **अब साधक इस दुविधा में फंस जाता हैं, कि यदि वह कोई कार्य नहीं करता. तो वह अहंकार की कारा से मुक्त होने के लिए कुछ भी यत्न नहीं करता; और यदि वह कार्य करता है, तो इस बातकी संभावना रहती है, कि उसका अहंकार इन कार्योंपर आरूढ होना शुद्ध कर दे।**

साधना पथ पर चलना उलवार की धारपर चलनें के समान है

आध्यात्मिक उन्नति के लिए साधक को इन दोनों **अतिरेकों** से दूर रह कर भी, रचनात्मक कार्य का जीवन बिताना होगा। आध्यात्मिक पथपर चलना, सजे हुए सन्नद्ध घोडे पर चढने के समान नहीं है, किंतु तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान है। घोडे की पीठपर सवार होते ही, घुड़सवार काफी आराम-पूर्वक उस पर बैठ जाता है। और आगे बढने के लिए बहुत अधिक

अपना दावा करने या उनका उपभोग करने के लिए वह नहीं रूकता किंतु उन्हें गुरू को अर्पित करके वह उनसे मुक्त हो जाता है। मन का इस प्रकार संयम करने से वह एक अस्थायी तथा काम-चलाऊ नया अहंभाव उत्पन्न करने में सफल होता है। इस नये अहंभाव से वह विश्वास, वह भावना, वह उत्साह तथा वह स्फूर्ति की प्राप्ति होती जो सच्चे कार्य के द्वारा प्राप्त होने ही चाहिए। आध्यात्मिक दृष्टि से यह नया अहंभाव हानि-रहित है क्योंकि इसकी उत्पत्ति अनन्तता का प्रतिनिधित्व करने वाले गुरू से होती है और यही कारण है कि समय आनेपर वह वस्त्र की भांति उतार कर फेंका जा सकता है।

इस तरह अब अहंकार दो प्रकार का होता हैं एक वह जो आत्मा के बंधनों को बढ़ाता है तथा दूसरा वह जो मुक्ति में सहायक होता है। यह सहायक अहंभाव संसारी मनुष्य की सीमित अहंवृत्ति तथा अनन्त जीवन की अहंकार-शून्यता के बीच का मार्ग है। गुरू के प्रति अनन्य निष्ठा से इस कृत्रिम तथा निर्दोष अहंभाव का जन्म होता है। **आध्यात्मिक उन्नति की प्रगति प्रक्रिया के लिए पूर्णतः गुरू की अधीनता में रहनेवाले इस अहंभाव की सृष्टि करना एक अनिवार्य आवश्यकता है।**

साधक अपने सीमित अहंकार से जीवन की सारी स्फूर्ति और प्रेरणा प्राप्त करने का आदी हो गया रहता है, और

आखरी अहंकार मूलक कार्य के जीवन से अहंकारशून्य कार्य के जीवन में उसका तुरंत रूपांतरित होना एकदम असंभव तथा अरूचिजनक होता है।

अहंकार-शून्य जीवन में एकदम प्रवेश करना असंभव है

सब प्रकार की अहंवृत्ती से तुरंत छुटकारा प्राप्त करने के लिए साधक निषेधात्मक निष्क्रियता की अवस्था का आश्रय लेना पड़ेगा। ऐसी निष्क्रियता की अवस्था में अभिव्यक्ति के आनन्द के लिए स्थान न रहेगा। अथवा, उसे निर्जीव यंत्र की तरह, कार्य करना होगा, जिसके करने से उसे तृप्ति का भाव प्राप्त नहीं होगा। साधक के समक्ष वास्तविक समस्या यह रहती है कि सीमित अहंकार के जीवन का परित्याग करके वह, किसी आलस्य-जन्य जड़ता या निष्क्रियता में प्रवेश किये बिना अहंकार-शून्य जीवन की अनन्तता की प्राप्ति करे। वह ऐसी जड़ता का जीवन नहीं चाहता जहां जीवन की गति ही बंद हो जाय। ऐसी जड़ता अहंकारमय जीवन की ससीमता से अस्थायी मुक्ति प्रदान कर सकती है, किंतु वह अहंकारशून्य क्रिया शीलता की अनंतता प्रदान करने में असमर्थ सिद्ध होगी। आलस्य जन्य जड़ता से अहंकारमय जीवन का दम घुट सकता है किंतु उसकी जान नहीं निकल सकती और न उसके द्वारा अहंकारशून्य जीवन की परिपूर्णता की प्राप्ति हो सकती है।

यही कारण है कि अधिकांश साधकों की आध्यात्मिक उन्नति बहुत धीरे-धीरे होती है तथा लक्ष्य स्थान में पहुंचे के लिए कई जन्म लग जाते हैं। कुछ साधक असाधारणतः अत्यंत शीघ्र उन्नति भी करते देखे जाते है। किंतु वे या तो पूर्वजन्म में यथेष्ट उन्नति कर चुकने वाले साधक होते हैं, या गुरू का विशेष अनुग्रह प्राप्त करने वाले साधक होते है। इन इने-गिने अपवादों को छोड़कर अन्य अधिकांश साधकों की उन्नति प्रायः धीरे धीरे होती है। **अहंकार के सीमित जीवन तथा अहंकार शून्यता के अनन्त जीवन के बीच की दूरी धीरे-धीरे तय की जाती है। सीमित अहंकार क्रम-क्रम से विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होता हुआ, रूपांतरित होता जाता है। इस प्रकार, अहंकार के स्थान में नम्रता आती है, उद्वेगपूर्ण इच्छाओं के स्थान में क्रम-क्रम से वृद्धि को प्राप्त होने वाला संतोष आता है, तथा स्वार्थ परता की जगह में क्रम-क्रम से निःस्वार्थ प्रेम आता है।**

आध्यात्मिक उन्नति क्रमशः होती है

गुरु के अधीन रहनेवाले अहंकार का उत्पन्न होना अनिवार्य है; साथ ही ऐसा अहंकार निर्दोष तथा हानि–रहित भी है। जब अहंकार पूर्णतः गुरू के वश में हो जाता है तभी साधक की प्रत्यक्ष रुपसे आध्यात्मिक उन्नति होती है क्योंकि इस गुरू-वशता के कारणसाधक गुरू के अधिकाधिक

समीप आता है। गुरू-शरणागति, गुरू-भक्ति तथा निःस्वार्थ सेवा के द्वारा साधक गुरू की अनन्त सत्ता के समीप पहुंचता जाता है। गुरू को आत्म समर्पण करने के पश्चात् शिष्य निरंतर गुरू का ध्यान करता रहता है तथा गुरू से निरंतर संपर्क स्थापित करता रहता है। इस संपर्क स्थापना के कारण वह गुरू की विशेष सहायता का पात्र होता है। जो साधक अपने असंयत तथा पृथक अहंकार के जीवन का परित्याग कर देता है तथा गुरू को आत्म-समर्पण कर देता है वह गुरू-आयत्त अपने अहंकार के द्वारा गुरू के हाथों में रहनेवाले एक साधन की भांति कार्य करता है वह स्वयं कार्य नहीं करता है। वस्तुतः उसके द्वारा उसका गुरू कार्य करता है। गुरू-शरणागत साधक गुरू का उपकरण होता है। उपकरण से जब काम लिया जाता है तो उसके बिगड जाने की भी संभावना रहती है। इसी भांति साधक जब संसार में कार्य करता रहता है तो कभी कभी उसके अव्यवस्थित हो जाने की भी संभावना रहती है। उपकरण को समय-समय पर धोने-पोछने, दुरुस्त करने, उसके कल-पुर्जों को ठीक ठीक करके उसे पुनः सुव्यवस्थित करने की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार, **साधक अपने कार्य काल में जो नये बंधन उत्पन्न कर लेता है, तथा वैयक्तिक अहंकार के जो नये आश्रय बना लेता है, उनको दूर करने तथा उखाड फेंकने**

जब अहंकार गुरू के अधीन कर दिया जाता है तब साधक गुरू की सहायता प्राप्त करता है।

के लिए, साधक को पुनः व्यवस्थित करना पड़ता है, ताकि वह अपनी आध्यात्मिक यात्रा में नये उत्साह तथा नयी गति से अग्रसर हो।

गुरू की सेवा के लिए अपने आपको अर्पित करनेवाला साधक गुरू के हाथ के झाड़ू के समान है। अपने शिष्य-रूपी झाड़ू के द्वारा गुरू संसार की अशुद्धताओं तथा अपवित्रताओं को साफ करता है। संसार को झाड़ते-बुहारते समय झाड़ू में मैल लगना अवश्यंभावी है। अतः यदि यह झाड़ू बार-बार पोंछा धोया तथा साफ न किया जाय तो वह थोड़े-ही समय में खराब हो जायगा और उससे अच्छी तरह काम नहीं लिया जा सकेगा। प्रत्येक बार जब साधक गुरू के पास पहुंचता है तो वह अपने साथ नयी आध्यात्मिक समस्याओं का बोझ लेकर जाता है। संभव है उसने अर्थलिप्सा, संपत्ति-लोलुपता या अन्य आकर्षक सांसारिक वस्तुओं की तृष्णा से संबंध रखनेवाले नये बंधन अपने लिए उत्पन्न कर लिये हो और, यदि वह इनके लिए उद्योग करे तो, संभव है, वह इन्हें प्राप्त भी करले। किंतु ऐसा करने से वह उस ईश्वरानुभूति क लक्ष्य से दूर हो जायगा जिसे प्राप्त करने की उसकी हार्दिक लगन थी। साधक के ऐसे संकट काल में गुरू मध्यस्थ होता है। गुरू के सक्रिय उपचार के ही द्वारा शिष्य के आध्यात्मिक रोग दूर होते हैं। आध्या-

गुरू से रह-रह कर संपर्क स्थापित करने की आवश्यकता

त्मिक आधि-व्याधि का गुरू के द्वारा दूर किया जाना जरहि के द्वारा आपरेशन किये जाने के तुल्य है। गुरू आध्यात्मिक रोग के मूल कारण की चिकित्सा करता है, और इस प्रकार साधक को चंगा करता है। पुनः आरोग्य लाभ करनेपर साधक की आध्यात्मिक प्राण-शक्ति पुनः स्वस्थ हो जाती है। यदि कोई मनुष्य शारिरिक रोग या बीमारी का शिकार हो तो उसे डाक्टर या सर्जन के पास जाना चाहिए, और यदि वह आध्यात्मिक रोग से पीड़ित हो तो उसे गुरू के पास जाना चाहिए। आध्यात्मिक उन्नति के समस्त क्रम-काल में बार-बार गुरू का संपर्क प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है।

अपने अजेय तरीकों से गुरू साधक की सहायता करता है। गुरू जिन रीतियों से साधक की मदत करता है, उनकी उपमा सांसारिक रीतियों से नहीं दी जा सकती, न सांसारिक रीतियों से उनकी तुलना की जा सकती है। किंतु यदि साधक उनकी सहायता का पात्र बनना चाहता हो तो गुरू की दिव्य इच्छा के सम्मुख अपना आत्म-समर्पण करने का उसे सच्चा प्रयत्न करना चाहिए। साधक प्रथम आत्म-समर्पण के द्वारा जिस वैयक्तिक अहंकार का त्याग करता है वह उसके पूर्णतः गुरू-वशीभूत कृत्रिम अहंकार की सीमा के भीतर पुनः नये रूपमें प्रकट हो सकता है और गुरू-वशीभूत अहंकार की

जितने बार वैयक्तिक अहंकार जी उठे उतने बार गुरू को नवीन आत्मसमर्पण किया जाना चाहिए

सुचारू क्रिया को अव्यवस्थित कर सकता है। त्यक्त वैयक्तिक अहंकार के, इस प्रकार, पुनः जी उठनेपर उसका प्रतिकार करने के लिए गुरू के प्रति पुनः नवीन आत्मसमर्पण करना आवश्यक हो जाता है। जितनी बार वैयक्तिक अहंकार जी उठे उतनी बार नवीन आत्म-समर्पण के द्वारा उसका प्रतिकार करना चाहिए।

अंतिम आत्म-समर्पण पृथकता का समर्पण है

एक आत्म-समर्पण एवं शरणागति के बाद द्वितीय आत्मसमर्पण एवं शरणागति का अवस्थांतर लघु विजय से महान विजय प्राप्त करने की ओर अग्रसर होना है। आत्म-समर्पण के अधिकाधिक पूर्ण रूप, चेतना की अधिकाधिक उच्च अवस्था के द्योतक हैं। आत्म-समर्पण जितना ही अधिक पूर्ण होगा उतना ही अधिक गुरू तथा साधक के बीच संवादिता (Harmony) स्थापित होगी, और गुरू का अनन्त जीवन उतने ही अधिक प्रचुर परिणाम में शिष्य के द्वारा प्रवाहित होगा। **आध्यात्मिक उन्नति क्रम-क्रम से किये जाने वाले अधिकाधिक पूर्ण शरणागति रूप आत्मसमर्पण की एक कथा है। यह कथा तब समाप्त होती है, जब अंत में पृथक अहंकार का जीवन पूर्णतः समर्पित कर दिया जाता है।** अंतिम आत्म-समर्पण ही केवल पूर्ण आत्म-समर्पण है। वह अंतिम एकता की प्राप्ति है। इस एकता के परिणाम-स्वरूप

साधक गुरू से युक्त हो जाता है। अतएव, **गुरू को अत्यंत पूर्ण आत्म-समर्पण करने का अर्थ है, आध्यात्मिक उन्नति के परम लक्ष्य की प्राप्ति या चरम सत्य की अनुभूति।**

03741-

६.

अच्छा और बुरा

मनुष्य का मन सिर्फ अनुभव ही प्राप्त नहीं करता जाता है किंतु लगातार उन अनुभवों का मूल्य भी आंकता जाता है। कुछ अनुभवों को वह प्रिय तथा कुछ को अप्रिय, कुछ अनुभवों को उपादेय तथा कुछ को हेय, कुछ अनुभवों को सुखद तथा कुछ अनुभवों को दुःखद समझता तथा पाता है। कुछ अनुभवों को वह मानव-जीवन को संकीर्ण करनेवाले अनुभव समझता है तथा कुछ अनुभवों को वह मानव-जीवन की पूर्णता तथा स्वतंत्रता लानेवाले अनुभव समझता है; कुछ अनुभवों को वह अच्छा तथा कुछ अनुभवों को बुरा समझता है। **जब मनुष्य किसी दृष्टिकोण से जीवन का अनुभव करता है, तब उसकी कल्पना इन द्वन्द्वों का सृजन कर लेती है।**

द्वन्द्वों के द्वारा अनुभवों का मूल्यमापन

किसी **खास** समय में मनुष्य के मन में जिन इच्छाओं की प्रधानता रहती है उन इच्छाओं के गुणधर्म के अनुसार मनुष्य की स्वीकार्य तथा अस्वीकार्य से बंधी धारणा निश्चित

होती है। उनकी इच्छाओं के गुणधर्म में जैसा परिवर्तन होता है, उसी के अनुसार उसका स्वीकार्य तथा अस्वीकार्य संबंधी दृष्टिकोण भी बदल जाता है। जब तक मनुष्य के मन में किसी न किसी प्रकार की इच्छा रहेगी तब तक वह उस इच्छा के संबंध में ही वह अपने अनुभवों का मूल्य निरूपण करने के लिए प्रेरित होगा। अपनी इच्छा के दृष्टिकोण से वह अपने अनुभवों को दो भागों में विभक्त करेगा—एक भाग वह होगा जो उसकी इच्छाओं की पूर्ति में सहायक होगा अतः वह भाग स्वीकार करने योग्य होगा तथा दूसरा भाग वह होगा जो उसकी इच्छाओं की तृप्ति में बाधक सिद्ध होता अतः वह भाग अस्वीकार्य होगा। **जीवन की समस्त वस्तुओं को बिना किसी इच्छा-अपेक्षा आशा-आसक्ति तथा राग-द्वेष को ग्रहण करने के बजाय, मनुष्य का मन एक ऐसा मान-दंड तैयार करता है, जिसके द्वारा वह जीवन को द्वन्द्व में विभक्त कर देता है। द्वंद्व का एक भाग स्वीकार्य होता है, तथा दूसरा भाग अस्वीकार्य।**

किसी इच्छा के संबंध में ही स्वीकार्य तथा अस्वीकार्य उत्पन्न होते है,

मनुष्य के मन ने जिन द्वन्द्वों की रचना की है; उनम , अच्छा ' और ' बुरा के बीच विभाजन आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अत्यंत महत्व-पूर्ण है। यह विभाजन समस्त इच्छाओं क बंधन से मुक्त होने की मनुष्य की आकांक्षापर आश्रित है।

वे अनुभव और वे कार्य जो इच्छा के बंधनों की वृद्धि करते हैं। बुरे है; तथा वे अनुभव और वे कार्य जो मन को सीमित करनेवाली इच्छाओं से मुक्त करते है, अच्छे हैं। किंतु, **अच्छे अनुभवों और कार्यों का भी अस्तित्व किसी इच्छा के ही संबंध में होता है, अतः वे भी उसी प्रकार बांधते है, जिस प्रकार बुरे अनुभव तथा कार्य बांधते है।** समस्त बंधन तभी दूर हो सकते हैं, जब सारी इच्छाएँ दूर हो जायें; अतएव सच्ची स्वतंत्रता तभी आती है, जब अच्छे और बुरे के बीच समानता उत्पन्न होती है तथा जब अच्छे और बुरे एक दूसरे में इतने विलीन हो जाते है, कि सीमित इच्छा को दोनों के बीच में चुनाव करने के लिए स्थान नहीं रह जाता।

अच्छा भी किसी इच्छा के ही संबंध में होता है

जब मानवीय चेतना पूर्णतः विकासित हो जाती है तो उसमें पूर्व से ही बुरें तत्वों की अधिकता पायी जाती है; क्योंकि विकास की उपमानवीय अवस्थाओं में चेतना मुख्यतः काम, क्रोध, लोभ, जैसी संकीर्ण प्रवृत्तियों के नीचे काम करती रही है। ऐसी अहंकार-मूलक प्रवृत्तियों के द्वारा जो अनुभव तथा कार्य उत्पन्न और वर्धित हुए हैं वे विकसित होते रहने वाले मन पर अपनी छाप या चिन्ह छोड़ते गये। विकासित होने वाला

पाशविक संस्कारों को लेकर मनुष्य जीवन शुरू करता है, जो अधिकांशतः बुरे होते हैं

मन इन चिन्हों को उसी प्रकार संचित करता गया जिस प्रकार सिनेमा की फिल्म अभिनेताओं के अभिनय को अंकित करती जाती है। अतएव बुरा होना सहज है तथा अच्छा होना कठिन हैं। पाशविक जीवन से मानवीय चेतना विकसित हुई है, अतः मनुष्य के आरंभिक जीवन में पशु जीवन से प्राप्त संस्कार, जैसे पाशविक वासना, पाशविक लिप्सा तथा पाशविक क्रोध की अधिकता पायी जाती है, यद्यपि पशुओं में कई बार आत्म-बलिदान, प्रेम तथा धैर्य के गुणों का विकास देखा जाता है। यदि समस्त संचित पाशविक संस्कार बुरे होते, तथा उनमें अच्छा संस्कार एक भी न होता तो मनुष्यों की चेतना में अच्छी प्रवृत्तियों का प्रकट होना असंभव हो गया होता।

अच्छ संस्कारों की वृद्धी करने की आवश्यकता

यद्यपि पाशविक संस्कारों में से कुछ संस्कार अच्छे है तथापि उनमें से अधिकांश संस्कार बुरे है। अतएव आरंभिक अवस्थाँय मानवीय चेतना अधिकांशतः बुरे संस्कारों की प्रेरक शक्ति के आधीन रहती है। **मानवीय विकास की बिलकुल आदि अवस्था से ही, मनुष्य की मुक्ति की समस्या, अच्छे संस्कारों को विकसित तथा वर्धित करने की समस्या रही है, ताकि वे संचित संस्कारोंपर अतिव्याप्त होकर, उनका लोप करने में समर्थ हो।** पाशविक जीवन में जिन संस्कारों की प्रधा-

नता रहती है उन संस्कारों के विरुद्ध अनुभवों और कार्यों को करने से अच्छे संस्कारों की वृद्धि होती है। काम का विरोधी प्रेम है, लोभ का विरोधी औदार्य है, क्रोध का विरोधी धैर्य या सहिष्णुता है। प्रेम, औदार्य तथा सहिष्णुता का आचरण करने से मनुष्य का लोभ तथा क्रोध को नष्ट कर सकता है।

पापी और पुण्यात्मा-

संस्कारों की दासता मुक्त से होने का सामान्य क्रम ह, बुर को त्याग कर अच्छे का ग्रहण करना। किंतु किसी सम्य में किसी मनुष्य का अच्छा या बुरा होना, उसके संस्कारों की कठोर संचालकता पर निर्भर रहता हैं। अपने संस्कारों स प्रेरित होकर, जिस प्रकार एक मनुष्य अच्छे कार्य करता है, उसी प्रकार अपने संस्कारों के ही वशीभूत होकर, दुसरा मनुष्य बुरे कार्य करता है। अच्छे और बुरे मनुष्य दोनों अपने-अपने संस्कारों के वशवर्ती होते है। इस दृष्टिकोण से, संसार में काम करनेवाले नियमों के अनुसार ही कोई पापी होता हैं, तथा कोई पुण्यात्मा होता है। पापी और पुण्यात्मा दोनों के आदि अंतमें कोई अंतर नहीं है अर्थात् दोनों परमेश्वर के ही रूप हैं। **पापी को अनन्त अधमता तथा अधःपतन का लांछन अनुभव नहीं करना चाहिए तथा पुण्यात्मा को अपनी नैतिक विजयों का अभिमान नहीं करना चाहिए।** कोई भी मनुष्य वह चाहे कितना भी बड़ा सदाचारी क्यों न हो, नैतिक भूलों और असफलताओं के पश्चात् ही नैतिक

सद्गुणों की उंचाईपर आरूढ होता है; तथा कोई भी मनुष्य इतना बुरा नहीं है कि वह उन्नति करके अच्छा नहीं बन सकता। सबसें अधिक भ्रष्ट मनुष्य भी धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ समस्त मानव-समाज के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण बन सकता है। प्रत्येक मनुष्य के लिए सदैव आशा का स्थान है। **कोई भी मनुष्य पूर्णतः पतित नहीं हैं; और उसे निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं। किंतु यह बात सच है, कि बुराई को त्यागने तथा अच्छाई को ग्रहण करने के ही द्वारा दिव्यता की प्राप्ति संभव है।**

सीमित अहंकार अच्छे और बुरे दोनों संस्कारों में निवास कर सकता हैं

जब सद्गुणों का क्रम-क्रम से विकास होता जाता है, तब प्रेम, उदारता तथा शांति का अविर्भाव होता जाता है, तथा इन गुणों के प्रकट होने से मन पर जो संस्कार संचित होते है, उनकी अधिकता, वासना, लोभ तथा क्रोध के संस्कारों को समभार करती है। जब अच्छे संस्कार उतनी ही मात्रा में उत्पन्न हो जाते है, जितनी मात्रा में बुरे संस्कार पूर्व से ही विद्यमान रहते है, तब अच्छे और बुरे संस्कार पूर्णतः तुल्यबल या समभार हो जाते हैं। अच्छे और बुरे संस्कारों के बीच में पूर्ण समभारता की उत्पत्ति होते ही, दोनों प्रकार के संस्कारों का अंत हो जाता है, तथा चेतना बंधन की अवस्था

स्वतंत्रता की अवस्था को प्राप्त होती है। हिसाब को समाप्त करने के लिए, जमा तथा खर्च का बराबर होना जरूरी है। किंतु अधिकांशतः या तो जमा का खाता खर्च के खाते से ज्यादा होता है या खर्च का खाता जमा के खाते से अधिक होता है और इस प्रकार हिसाब जारी रहता है। यह बात ध्यान रखने योग्य है, कि हिसाब तबतक चालू रहता है, जबतक या तो जमा का खाता ज्यादा रहता है, या खर्च का खाता। हिसाब तभी बंद किया जा सकता है जब जमा और खर्च दोनों बिलकुल बराबर हों। किंतु संस्कारों के क्षेत्र में, अच्छे और बुरे संस्कार के बराबर-बराबर होने के उदाहरण बहुत कम पाये जाते है। किसी खास समय में या तो बुरे संस्कारों का जोर रहता है, यां तो भले संस्कारों का जोर रहता है। और जिस प्रकार या तो जमा के अधिक रहने से हिसाब चालू रखा जा सकता है, अथवा खर्च के अधिक होने हिसाब चालू रखा जा सकता है, इसी प्रकार सीमित अहंकार या तो बुरे संस्कारों के बाहुल्य से जीवित तथा पोषित होता है, अथवा अच्छे संस्कारों के प्राचुर्य से जीवित तथा पोषित होता है। जिस प्रकार बुरे संस्कारों का आधार पाकर सीमित जीवभाव संस्कार जीता है, उसी प्रकार अच्छे संस्कारों का आश्रय पाकर भी वह जी सकता है। सीमित जीवभाव के पूर्ण नाश के लिए अच्छे और बुरे संस्कारों के बीच पूर्ण परस्परानुव्याप्ति (Overlapping) तथा भारतुल्यता (balancing) का होना आवश्यक अत्यंत है।

अच्छे और बुरे संस्कारों का तुल्यबल तथा समभार होना

अच्छे तथा बुरे संस्कारों के बीच तुल्यबलता तथा समभारता स्थापित करने की समस्या नाप-तोल कर दो समान परिणामों को दोनों ओर रखने या गिनकर दो समान संख्याओं को दोनों ओर रखने जैसी कोई सरल समस्या नहीं हैं। यदि दो समान परिणामों या दो समान संख्याओं का ही सीधा-सा प्रश्न होता तो लगातार अच्छे संस्कारों का संग्रह करने से ही प्रश्न हल हो जाता। यदि अच्छे संस्कारों का संग्रह एकदम बंद हो जाय। बिलकुल कम पड़ता जाय और यदि साथ ही साथ अत्यंत द्रुतगति से अच्छे संस्कारों का संग्रह अविश्रांत रूप से बढ़ता चला जाय तो पूर्व-संचित संस्कारों के परिणाम से नव-संचित अच्छे संस्कारों का परिणाम बराबर हो जाय; और इस प्रकार बुरे तथा अच्छे संस्कारों के बीच आवश्यक समीकरण तथा समभारता (balancing) स्थापित हो जाय। किंतु चेतना की मुक्ति के लिए अच्छे और बुरे संस्कारों को बल में ही बराबर हो जाने से काम नहीं चलेगा। **चेतना की मुक्ति तभी होगी, जब बिंदु-बिंदुप** (Point-to-Point) **दोनों परस्पराविरुद्ध द्वन्द्वे समभार होंगे**। अतः चेतना के प्रत्येक केंद्र के सम्मुख उपस्थित रहनेवाली समस्या संचित संस्कारों के **गुणभेद** के अनुसार भिन्न भिन्न रहने वाली एक विशिष्ट समस्या है।

उपस्थित संस्कारों की विशिष्ट गुणविषयक रचना-विधि पर ध्यान दिये बिना हो, यदि अच्छे संस्कारों का संग्रह जारी रखा जायगा तो किसी दिशा में अच्छे संस्कारों की आवश्यकता से अधिक संग्रह हो जाने की संभावना रहेगी तथा साथ ही साथ विभिन्न प्रकार के बुरे संस्कार पहिले से ही बने रहेंगे। उदाहरणार्थ, आत्मोत्पीडन (Selfmortification) तथा कई प्रकार की कठोर तपश्चर्या के द्वारा, कुछ आसक्तियों का लोप किया जा सकता हैं; किंतु इन अभ्यासों से कुछ अन्य प्रकार की आसक्तियां दूर न होंगी और वे ज्यों की त्यों बनी रहेंगी। साधक इन अछूती बची हुई समस्याओं की परवाह न करके तथा उनकी ओर दुर्लक्ष्य करता हुआ अपने किये गये अभ्यासों से उत्पन्न संस्कारों से ही प्रेरित होकर आत्मोत्पीडन तथा कठोर तपश्चर्या के अभ्यास को जारी रखेगा। यह एक ऐसा उदाहरण है कि जरा सीमित अहंकार का नाश हुए बिना अच्छे संस्कारों का अतिरेक बढ़ता चला जायगा और आगे चलकर ज्यों की त्यों बनी रहनेवाली आसक्तियों के नष्ट हो जानेपर भी, अहंकार इन नये कार्यों में स्थित्यंतरित हो जायगा और उन्हीं की सहायता से जीवित रहेगा।

अहंकार का सद्गुण में अवस्थांतरित होना

मुक्ति, कोरा सद्गुणों का संग्रह करने का विषय नहीं हैं। संस्कारों को विवेकपूर्वक व्यवस्थित करने से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। चेतना का प्रत्येक केंद्र अज्ञानता मुक्ति या

सत्यानुभूति के ओर आकृष्ट हो रहा है; तथा मन की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह उसी द्वन्द्व को अपनी ओर आकर्षित करता है, जिसकी उसे विशेष परिस्थिति में आवश्यकता रहती है। किंतु वह स्वतः सिद्ध होनेवाली कोई यांत्रिक क्रिया नहीं है जिसे भाग्य के भरोसे छोड देने से काम चल सकता हो। आध्यात्मिक दृष्टि से आवश्यक संस्कार को प्राप्त करने के लिए साधक को ठीक तथा विवेक-युक्त चेष्टा करनी पडेगी। अधिक तर साधक के लिए यह समझना असंभव हो जाता है कि उसके लिए किसी विशेष परिस्थिति की और विशेष संस्कारों की आवश्यकता है। गुरू के बिना साधक प्रायः अपनी आध्यात्मिक आवश्यकता को भली-भांति नहीं समझ सकता है। गुरू को इस बात का यथार्थ तथा प्रत्यक्ष ज्ञान रहता है, कि किस साध्य के लिए विशेषतः क्या आवश्यक है।

संस्कारों को विवेक-पूर्वक व्यवस्थित करने की आवश्यकता

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है, कि सीमित अहंकार को जीवित रखने के लिए अच्छे संस्कार भी सहायक हो सकते है। **जब मनुष्य समझता है कि वह बुरा नहीं हैं। वरं अच्छा है, तो वह बुरा होने के भाव से युक्त न होकर, अच्छा होने के भाव से युक्त हो जाता है, और वह एक नये रूपमें अपनी पृथक सत्ता को बनाया रखता है, और द्वंद्व के**

सद्गुण की कारा

द्वारा ही अहंप्रतिष्ठापन (selfaffirmation) करना है। अहंकार सद्गुण का यह जो घर बना लेता है उसे नष्ट करना कुछ मनुष्यों के लिए अधिक कठिन कार्य सिद्ध होता है। अच्छे होने के भाव से तादात्म्य अनुभव करना बहुदा बुरे होने के भाव से तादात्म्य अनुभव करने की अपेक्षा अधिक परिपूर्ण होता है। दुर्गुण से तादात्म्य-भाव को दूर करना ज्यादा आसान होता है, क्योंकि बुरा कार्य करने वाले को ज्यों ही मालूम हो जाता है, कि उसका कार्य बुरा है, त्यों ही उसकी चेतना पर बुराई का प्रभाव कम हो जाता है। किंतु चेतनापर सद्गुण का प्रभाव दृढ होता है, और अच्छाई के अहंकार को उखाडना अत्यंत कठिन हो जाता है, क्योंकि अच्छा मनुष्य बुरे मनुष्य से अपना वैषम्य अनुभव करता है। तथा उसमें आत्म-औचित्य की भावना एवं अच्छा होने का गर्व बढ़ जाता है। तथापि समय बीतने पर मनुष्य सद्गुण का गर्व करते–करते थक जाता है और अच्छे होने के अभिमान की कारा से ऊब जाता है। यह ज्ञान उत्पन्न होने ,पर अच्छे और बुरे के द्वैत का अतिक्रमण करके वह अपनी पृथक् सत्ता का परित्याग कर देता है।

दुर्गुण के प्रति तादात्म-भाव का परित्याग करके अहंकार सद्गुण के प्रति–तादात्म–भाव अनुभव करता है। सद्गुण के प्रति तादात्म्य–भाव का अनुभव करने से उसे अपेक्षाकृत अधिक विस्तार का अनुभव होता हैं किंतु शीघ्र या

पश्चात्, साधक को सद्गुण का गर्व भी नवीन बंधन मालूम होता है; और उसे ज्ञात होता है कि दुर्गुण के बंधनों का छिन्न करना जितना कठिन था, उतना कठिन सद्गुण के बंधनों को छिन्न करना नहीं है। **बुराई के बंधन से मुक्त होने में यह कठिनाई रहती है, कि बुराई बंधन है, उस बंधन को छिन्न करना एक कठिन कार्य होता है, तथा अच्छाई के बंधन से मुक्त होने में यह कठिनाई रहती है, कि मालूम करना ही एक अत्यंत कठिनाई कार्य होता है, कि अच्छाई बंधन है, यद्यपि उस बंधन को छिन्न करना उतना कठिन नहीं होता।** बुराई के बंधन को छिन्न करना कठिन इसलिए होता है कि बुरे संस्कारों का संचय पाशविक अवस्था में होता चला आता है, अतः अत्यंत प्राचीन काल से संचित होते रहने के कारण, उसकी जड़ अत्याधिक दृढ होती है। किंतु यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि सद्गुण उतना ही बांधता है जितना दुर्गुण बांधता है यद्यपि यह मालूम हो जानेपर कि सद्गुण भी बंधन है, उसे छिन्न करना उतना कठिन नहीं होता।

सद्गुण तथा दुर्गुण की तुलना

अहंकार या तो बुरे संस्कारों के सहारे जीता है या अच्छे संस्कारों के सहारे या तो फिर वह अच्छे तथा बुरे संस्कारों के संमिश्रण के सहारे जीता है। अतएव समस्त सस्कारा से चेतना की मुक्ति या तो तब हो सकती है जब

अच्छे संस्कार अतिव्याप्त हो जायें और अतिव्याप्त होकर बुरे संस्कारों से समभार हो जायें, या कुछ बुरे संस्कार अतिव्याप्त होकर, अच्छे संस्कारों से समभार हो जायें। यदि एक चीनी का बर्तन गंदा हो जाय तो साबुन लगाकर तथा फिर उसे पानी से धोकर आप उसे साफ कर सकते है। यह अच्छे संस्कारों पर अतिव्याप्ति होने के समान है। किंतु यदि बर्तन तेल से भर जाय तो तेल को साफ करने का एक तरीका है, राख से बर्तन को मांजना फिर उसे पानी में धोना। राख संसार में सबसे अधिक चरबी रहित पदार्थ है अतः राख तेल का विरोधी है। यही कारण है कि तेल लगे हुए बर्तन पर राख लगाने से वह साफ हो जाता है। यह अच्छे संस्कारों पर बुरे संस्कारों अतिव्याप्ति होने के समान है।

अच्छे तथा बुरे संस्कारों की सम-व्याप्तता के लिये

जब अच्छे और बुरे संस्कारों के बीच पूर्ण रूपसे सम-व्याप्तता तथा समभारता की स्थापना हो जाती है तो दोनों का लोप हो जाता है। परिणामतः चित्त की एक ऐसी स्वच्छ अवस्था रह जाती है जिसपर कुछ भी नहीं लिखा रहता, तथा जो सत्य ज्यों की त्यों प्रतिबिंबित करती है। संस्कार मनपर संचित हैं, न कि आत्मापर। आत्मा सदैव नित्यशुद्ध रहता है, किंतु जब मन एक स्वच्छ आईना बन जाता है, तभी वह सत्य को प्रति-

ईश्वरानुभूति की अवस्था समस्त संस्कारों से मुक्त हैं तथा सद्-गुण और दुर्गुण दोनों से परे है

बिंबित कर सकता है। जब सद्गुण तथा दुर्गुण दोनों के संस्कारों का विलोप हो जाता है, तब मन आत्मा को देखता है। यह आत्मा-दर्शन है। मन के आत्मा को देखना तथा आत्मा के आत्मा को जानना—दोनों भिन्न है, क्योंकि आत्मा मन नहीं है किंतु ईश्वर है, जो मन से परे है। अतएव, **मन जब आत्मा को देख लेता है, तो फिर उसे आत्म-दर्शन के पश्चात् आत्मा में मग्न हो जाना पड़ता है। तभी आत्मा को परमात्मा का ज्ञान होता है। यह सत्यानुभूति या आत्म-ज्ञान, परमात्मावस्था है। इस अवस्था में स्वयं मन अपने अच्छे और बुरे संस्कारों के सहित विलुप्त हो जाता है।** यह मन से परे की अवस्था है, अतः यह अच्छे और बुरे के भेद-भाव से परे की अवस्था है। इस अवस्था के दृष्टिकोण से एकहि अविभाज्य सत्ता का अस्तित्व रह जाता है। इस अवस्था के लक्षण हैं प्रेम, शांति, आनन्द तथा ज्ञान। **इस अवस्था में अच्छे और बुरे के बीच चलने वाले निरंतर संग्राम का अंत हो जाता है। क्योंकि इस अवस्था में न तो सद्गुण रह जाता है, और न दुर्गुण। यह तो ब्रह्म की निर्गुण अवस्था है, जो अखंड तथा सर्व-समावेशक (Inclusive) है।**

७

साधना के गंभीर स्तर

धार्मिक क्रियाकलापकी भूमीकासे ऊपर उठकर साधना के गंभीर स्तरोंमें प्रवेशः—

अधिकांश लोगोंके लिये आध्यात्मिक साधनाका स्वरूप अपने-अपने धर्मोद्वारा निर्दिष्ट क्रियाकलापका बाह्य अनुष्ठान होता है। प्रारम्भिक अवस्थाओंमें इस अनुष्ठानका भी एक महत्त्व होता है, क्योंकि इससे आत्मशुद्धि और मनोनिग्रहमें सहायता मिलती है; परंतु अन्ततोगत्वा साधकको बाह्य नियमोंके पालनकी अवस्थासे ऊपर उठकर आध्यात्मिक साधनाके गंभीर स्तरोंमें प्रवेश करना पड़ता है। जब साधक इस भूमीकामें पंहुच जाता है, तब धर्मका बाह्यरूप उसके लिये गौण हो जाता है और उसकी रूचि धर्मके उन मूल तत्त्वोंकी ओर हो जाती है, जो सभी बड़े बड़े मजहबोंमें व्यक्त हुए हैं। सच्ची उस जीवनको कहते हैं, जिसके मुलमें आध्यात्मिक बोध रहता है और यह बोध उसीको होता है, जिसकी रुचि वास्तवमें आध्यात्मिक तत्त्वोंकी ओर होती है।

साधनभेदः—

साधन का अर्थ कठोर नियमों का बन्धन नहीं समझना चाहिये। सब के जीवन को एक और अटल सामान्य नियम में जकड़ना अशक्य है न उसकी आवश्यकता ही है। आध्यात्मिक क्षेत्र में साधन-भेद के लिये काफी अवकाश है। जो साधन किसी एक साधक के लिये उपयोगी होता है, वह अवश्य ही उसके संकारों और मनोवृत्ति की अपेक्षा रक्खेगा। इस प्रकार यद्यपि सब का आध्यात्मिक ध्येय एक ही होता है, विशिष्ट साधक का साधन विशेष प्रकार का हो सकता है। किन्तु ध्येय सबका एक होने के कारण साधनगत भेद विशेष महत्त्व के नहीं होते और साधना के गंभीर स्तर बाहरी भेदों के रहते हुए भी सभी साधकों के लिये एक और महत्त्वपूर्ण होते हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्र की साधना भौतिक क्षेत्र की साधना से भिन्न होती है:—

आध्यात्मिक क्षेत्र की साधना भौतिक क्षेत्र की साधना से अवश्य ही तत्त्वतः भिन्न होगी, क्योंकि आध्यात्मिक क्षेत्र का ध्येय भौतिक क्षेत्र के ध्येयों से स्वरूपतः भिन्न होता है। भौतिक क्षेत्र का ध्येय एक ऐसा पदार्थ होता है, जिसका काल की दृष्टी से आदि और अंत होता है और जो किसी अन्य वस्तु का कार्य होता है, आध्यात्मिक क्षेत्र का ध्येय पूर्णता है, जो काल की सीमा से अतीत है। अतः भौतिक क्षेत्र की साधना का लक्ष्य ऐसी वस्तु की प्राप्ति होता है, जो अभी भविष्य के गर्भ में है, किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र की साधना का लक्ष्य उस

वस्तु की प्राप्ति होती है, जो सदा रही है, सदा रहेगी और इस समय भी है।

आध्यात्मिक साधना के ध्येय का सामान्य रूपः—

जीवन के आध्यात्मिक ध्येय को जीवन के भीतर ही ढूँढ़ना चाहिये, जीवन के बाहर नहीं; अतः आध्यात्मिक क्षेत्र की साधना इस प्रकार की होनी चाहिये कि वह हमारे जीवन को उस जीवन के अधिकाधिक निकट ले जाय, जिसे हम आध्यात्मिक समझते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र की साधना का ध्येय किसी सीमित अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होता, जो कुछ दिन रहकर फिर सदा के लिये मिट जाय—इस तरह मिट जाय कि जैसे वह कोई बिलकुल ही नगण्य वस्तु हो; उसका ध्येय होता है जीवन के स्वरूप का आमूल परिवर्तन, जिससे कि वह सदा के लिये चिरस्थायी वर्तमान में महान् सत्य को अभिव्यक्त कर सके। साधना आध्यात्मिक दृष्टी से तभी सफल होती है, जब वह साधक के जीवन को ईश्वरीय उद्देश्य के अनुकूल बनाने में समर्थ होती है, जो जीवमात्र को ब्रह्मभाव की आनन्दमय अनुभूति कराना है। साधन को इस ध्येय के स्वरूप के सर्वथा अनुकूल बनाना पड़ेगा।

साधन साध्य में मिल जाता हैः—

आध्यात्मिक क्षेत्र में साधना के प्रत्येक अंग का ध्येय जीवन के सभी स्तरों में ईश्वरत्व की प्राप्तिरूपि आध्यात्मिक लक्ष्य की सिद्धि होना चाहिये; अतः एक दृष्टि से आध्यात्मिक साधना

के विभिन्न स्तर आध्यात्मिक पूर्णता की स्थिति के निकट पहुँचने की भिन्न भिन्न श्रेणियां हैं। साधना उतने ही अंश में पूर्ण होती है जितने अंश में वह इसे आध्यात्मिक आदर्श को व्यक्त करती है, अर्थात् जितने अंश में वह पूर्ण जीवन के सदृश होती है। इस प्रकार साधन और साध्य में जितना ही अधिक अन्तर होता है, साधना उतनी ही पूर्ण होती है। और जब साधना पूर्ण होती है, तब साधना आध्यात्मिक साध्य में जाकर मिल जाती हैं और इस प्रकार साधना और साध्य का भेद अखंड सत्ता की अविकल पूर्णता में लीन हो जाता है।

साधना का अर्थ है साध्य की आंशिक प्राप्तिः—

साधना और उसके द्वारा प्राप्त किये जानेवाले साध्य का जो यह सम्बन्ध है, वह भौतिक क्षेत्र में रहनेवाले साध्य और साधन के सम्बन्ध से भिन्न ही प्रकार का है। भौतिक क्षेत्र का साध्य प्रायः जिस साधन के द्वारा उसकी प्राप्ति होती है, उसके न्यूनाधिक रूप में बाहर रहता है, और साधन एवं उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले साध्य स्वरूप में भी स्पष्ट भेद होता है। उदाहरण के लिये बंदूक के घोडे को खींचना किसी मनुष्य की मृत्यु का साधन हो सकता है; परंतु मनुष्य की मृत्यु और घोडे के खींचने की क्रिया में स्वरूपतः महान् अन्तर हैं, दोनों में किसी प्रकार की सजातीयता नहीं है। किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में साधन और उसके द्वारा प्राप्तव्य साध्या एक दूसरे से सर्वथा बाह्य नहीं हो सकते और उनमें

कोई स्पष्ट स्वरूपगत भेद भी नहीं है। आध्यात्मिक क्षेत्र में साधन और साध्य के बीच में ऐसा अन्तर नहीं रक्खा जा सकता जो किसी प्रकार मिट ही न सके, और इससे यह बात निष्पन्न होती है- जो देखने में असंगत-सी मालूम होती है—कि आध्यात्मिक क्षेत्र में साधन का अर्थ ही साध्य की आंशिक प्राप्ति होता है। इस प्रकार बहुत से आध्यात्मिक साधनों को वास्तव में जो साध्य मानकर चलना पड़ता है, इसका कारण भी समझ में आ जाता है।

ज्ञान, कर्म और भक्ति की साधनाः—

साधना के गंभीर स्तरों में आध्यात्मिक साधन का अर्थ होता है—(१) ज्ञान-मार्ग, (२) कर्म मार्ग और (३) भक्ति-मार्ग का अनुसरण। ज्ञान के साधन का स्वरूप होता है—(क) यथार्थ बोध से उत्पन्न होनेवाले वैराग्य का अभ्यास, (ख) ध्यान की भिन्न भिन्न प्रक्रियाएँ और अंतःप्रज्ञा का निरन्तर उपयोग। आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति अथवा अभिव्यक्ति के इन त्रिविध प्रकारों की कुछ व्याख्या करने की आवश्यकता है।

(१-क) वैराग्यः—

जीव इस नामरूपात्मक जगत् के जाल में फँसकर इस बातको भूल गया है कि वह ईश्वर की ही सत्ता का एक अंश है। यह मूल अज्ञान ही जीव का बन्धन है और इस बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना ही आध्यात्मिक साधना का उद्देश्य होना चाहीये। अतः सांसारिक विषयों के बाह्य त्याग की बहुधा

मोक्ष के साधनों में गणना की जाती है; परन्तु यद्यपि इस प्रकार के बाह्य त्याग का भी एक अपना महत्व हो सकता हैं, तथापि वह सर्वथा आवश्यक नहीं है। आवश्यकता है सांसारिक विषयों की स्पृहा के भीतरी त्याग की। और जब इस स्पृहा का त्याग हो जाता है, तब इस संसार के पदार्थों का त्याग गौण हो जाता है; क्योंकि जीवात्माने इस नामरूपात्मक मिथ्या जगत् से सम्बन्ध का भीतरी त्याग कर दिया है और मुक्ति की अवस्था के लिये तैयारी कर ली है। वैराग्य ज्ञान की साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

(१-ख) ध्यान :—

आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करने का दूसरा साधन ध्यान है। ध्यान के सम्बन्ध में ऐसा नहीं मानना चाहिये कि यह पर्वत-कन्दराओं में रहनेवाले मुनियों के ही करने की कोई अनोखी क्रिया है। प्रत्येक मनुष्य अपने को किसी-न-किसी वस्तु का ध्यान करते हुए पाता है। इस प्रकार क स्वाभाविक ध्यान और साधक के ध्यान में अन्तर यही है कि साधक का ध्यान क्रमबद्ध और नियमितरूप से होता है और वह ऐसी वस्तुओं का चिन्तन करता है जो आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होती है। साधनरूप में किया जानेवाला ध्यान आकार पर भी हो सकता है और मूर्तिनिरपेक्ष भी।

सगुण ध्यान वह है जिसका सम्बन्ध किसी ऐसे व्यक्ति से होता है, जो आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण हो। सगुण ध्यान के

लिये (साधक की रुचि के अनुसार) पूर्व के अवतारों में से अथवा वर्तमान के सिद्ध पुरुषों से किसी को चुना जा सकता है। इस प्रकार के साकार ध्यान का अभ्यास करने से साधक के अंदर उसके ध्येय के समस्त दैवी गुणों अथवा आध्यात्मिक ज्ञान का संक्रमण होने लगता है; और प्रेम तथा आत्मसमर्पण का भाव ध्यान के अंतर्गत रहने से उससे ध्येय पुरुष की कृपा का आकर्षण होता है और चरम सिद्धि उस कृपा से ही संभव होती है। इस प्रकार मूर्तिनिष्ठ ध्यान की साधना से साधक अपने ध्येय के समान ही नहीं बन जाता वरन् उसके साथ तत्त्वतः एक हो जा सकता है।

मूर्तिनिरपेक्ष-ध्यान का सम्बन्ध परमात्मा के निराकार स्वरूप की प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर हो सकता है। परन्तु सामान्यतः साकार-ध्यान के अभ्यास और सदाचारमय जीवन के द्वारा जबतक साधक भली भाँति तैयार नहीं हो जाता, तबतक अव्यक्त-चिंतन व्यर्थ ही होता है। अनन्त परमात्मा की चरम अनुभूति में न तो आकाररूप उपाधि रहती है और न रूप और अरूप का भेद ही रहता है; इस अनुभूति को प्राप्त करने के लिये तो साकार से सच्चिदानंदरूप परमात्मा में जाना पड़ता है, जो व्यक्त और अव्यक्त दोनों से परे है। निराकार-ध्यान के द्वारा तत्त्व को प्राप्त करने की दूसरी शर्त यह है कि साधक को अपना चित्त बिलकुल स्थिर कर लेना चाहिये। परंतु यह तभी सम्भव होता है, जब चित्त के विभिन्न संस्कार नष्ट हो जायँ। और

संस्कारों का आत्यन्तिक विनाश ईश्वर अथवा महापुरुष की कृपा से सम्भव होता है। निराकार-ध्यान के मार्ग में सिद्धि प्राप्त करने के लिये भी ईश्वर अथवा महापुरुष की कृपा के बिना काम नहीं चलता।

(१-ग) विवेक और अंतःप्रज्ञा का उपयोगः—

ज्ञान का साधन तबतक अधूरा ही रहता है, जबतक साधक निरन्तर विवेक का अभ्यास नहीं करता और अपनी उच्चतम अंतःप्रज्ञा का विकास नहीं करता। ईश्वर का साक्षात्कार उसी साधक को होता है जो सत्य एवं नित्य वस्तुओं के संबंध में अपनी अंतःप्रज्ञा एवं विवेक से काम लेता है। प्रत्येक मनुष्य के अन्दर अनन्त ज्ञान का भंडार छिपा रहता है, उसे प्रकट करने की आवश्यकता होती है। मनुष्य के अंदर जो कुछ भी थोडा बहुत आध्यात्मिक ज्ञान होता है, उसे आचरण में उतारना ही ज्ञान की वृद्धि का उपाय है। ज्ञानी महापुरुषों के द्वारा जो कुछ उपदेश मानव-जाति को समय-समय पर प्राप्त होते रहे और साधक को जन्म से ही जो विवेक-बुद्धि प्राप्त रहती है, उससे उसे इसके आगे क्या करना है, इस विषय में यथेष्ट प्रकाश मिलता है। जो कुछ उसे प्राप्त है, उसको अमल में लाना कठिन है!

(२) कर्ममार्ग का महत्त्व :—

ज्ञान के साधन की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक अवस्था में कर्म-सहकृत हो। दैनिक जीवन

विवेकानुसारी होना चाहिये और उसमें ऊँची-से-ऊँची अंतःप्रज्ञ की प्रेरणा होनी चाहिये। बिना किसी भय अथवा शंका के हृदय की सर्वोत्तम प्रेरणाओं के अनुसार आचरण करना ही कर्म-योग अथवा कर्ममार्ग का स्वरूप है। साधन में आचरण की ही प्रधानता है, केवल विचार की नहीं। सम्यक् विचार की अपेक्षा सम्यक् आचरण का बहुत अधिक महत्त्व है। अवश्य ही जो आचरण सम्यक् ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित है, वह अधिक लाभ-दायक होगा; किन्तु आचरण की दिशा में एक भी भूल होने से उससे हमें महत्त्वपूर्ण शिक्षा मिल सकती है। जो विचार केवल विचार के लिये ही होता है अर्थात् जिसके अनुसार आचरण नहीं किया जाता, उससे कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं होता चाहे वह कितना ही निर्भ्रान्त क्यों न हो। इस प्रकार जो मनुष्य बहुत पढ़ा-लिखा तो नहीं है, किंतु जो सच्चे मन से भगवान का नाम लेता है और अपने छोटे-से छोटे कर्तव्य का पूरे मन से पालन करता है, वह उस मनुष्य की अपेक्षा भगवान के अधिक समीप हो सकता है, जिसे दुनियाभर का दार्शनिक ज्ञान तो है, परन्तु जिसके विचारों का उसके दैनिक जीवनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

एक गधे का दृष्टांत :—

साधन के क्षेत्र में विचार की अपेक्षा आचरण का कितना अधिक महत्त्व है—यह बात एक गधे के आख्यान से, जो प्रसिद्ध है, स्पष्ट हो सकती है। एक गधे को, जो बहुत देर से चल रहा

था, बड़ी भूख लगी। थोडी देर बाद उसको घास की दो ढेरियाँ दिखलायी दीं, एक तो रास्ते की दाहिनी ओर कुछ दूरपर थी और दूसरी मार्ग की बाँयीं ओर थी। गधे ने सोचा कि उन दोनों ढेरियों में से किसी के पास जाने का विवेकपूर्वक निश्चय करने के पूर्व उस बात का निश्चित रूप से जान लेना आवश्यक है कि दोनों ढेरियों में से कौनसी ढेरी सब ओर से विचार करनेपर अधिक वरणीय ठहरती है। बिना भली भाँति विचार किये और दूसरी की अपेक्षा एक को पसंद करने के लिये यथेष्ट कारण न होते हुए दोनों में से किसी एक को चुन लेना उसके लिये विवेकपूर्ण कार्य न होकर केवल इच्छाप्रेरित होगा। इस लिये पहले उसने इस बातपर विचार किया कि जिस रास्तेपर वह चल रहा है, वहाँ से दोनों ढेरियों की दूरी कितनी है। दुर्भाग्यवश बड़ी देर-तक विचार करने के बाद वह इस निश्चयपर पहुंचा कि दोनों ही ढेरियाँ मार्ग से समानान्तरपर हैं। अतः अब वह किसी दूसरे कारण को ढूँढ़ने लगा, जिसके आधारपर उन ढेरियों के तारतम्य का ठीक-ठीक निर्णय किया जा सके और इस विचार से दोनों ढेरियों में कौनसी बड़ी और कौनसी छोटी है—इस पर विचार करने लगा। परन्तु इस बार भी वह विचार के द्वारा यह निर्णय नहीं कर सका; क्योंकि इस बार भी वह इसी निश्चयपर पहुंचा कि दोनों ढेरियाँ परिमाण में भी बराबर ही थीं, छोटी बड़ी नहीं। तब उसने अपनी स्वभावोचित धीरता और अध्यवसाय के साथ घास की उत्तमता आदि अन्य बातोंपर विचार किया

परन्तु प्रारब्ध की बात, सभी बातों में—जिन को लेकर वह विचार कर सकता था—उसे ऐसा मालूम हुआ कि दोनों ढेरियाँ समानरूप से अभीष्ट हैं।

अन्त में यह हुआ कि जब गधे के ध्यान में कोई ऐसी बात नहीं आयी कि जिस के आधारपर वह विचारपूर्वक कह सकता कि दोनों ढेरियों में से कौनसी अधिक वरणीय है, वह उनमें से किसी के समीप नहीं गया किन्तु पहले की ही भाँति क्षुधापीडित और थका-माँदा सीधा चला गया; घास की दो ढेरियाँ मिलने पर भी वह उनसे कोई लाभ उठा नहीं सका। यदि वह विवेकपूर्वक विचारद्वारा ठीक-ठीक निर्णय करने के आग्रह को छोडकर दोनों में से किसी एक ढेरी के समीप चला गया होता तो सम्भव था वह ढेरी उतनी अच्छी न होती, जितनी दूसरी ढेरी रही होगी; परन्तु बुद्धिद्वारा निर्णय करने में भूल रह जानेपर भी व्यावहारिक दृष्टि से वह अनन्त गुणा लाभ में रहता। आध्यात्मिक जीवन में किसी मार्गपर चलना प्रारम्भ करने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि हमारे पास उस मार्ग का पूरा मान-चित्र हो, बल्कि मार्ग का पूरा ज्ञान प्राप्त करने का आग्रह होने से यात्रा में सहायता मिलने की अपेक्षा उल्टी रुकावट हो सकती है। आध्यात्मिक जीवन के गूढ रहस्य उन्हीं के सामने प्रकट होते हैं, जो जोखिम उठाकर वीरतापूर्वक अपने को परीक्षा में डालते हैं। जो आलसी मनुष्य एक-एक कदम आगे बढ़ने के लिये हानि न होने की गारंटी चाहता है, उसके सामने वे रहस्य कभी प्रकट नहीं होते। जो मनुष्य समुद्र के किनारे

खड़ा होकर उसके सम्बन्ध में विचार करता है, उसे केवल समुद्र के उपरी भाग का ज्ञान होगा; परन्तु जो समुद्र की थाह लेना चाहता है, उसे समुद्र के जलमें गोता लगाने के लिये तैयार होना पड़ेगा।

निष्काम सेवा:—

कर्मयोग की साधना में सफल होने के लिये इस बात की आवश्यकता है कि कर्म का उगम ज्ञान से होना चाहिये। ज्ञानपूर्वक कर्म बन्धन—कारक नहीं होता, क्योंकि वह अहंकार-मूलक न होकर अहंकार-शून्य होता है। स्वार्थ परायणता अज्ञान का ही स्वरूप है और अहंकारशून्यता यथार्थ ज्ञान का प्रतिबिंब है; हमें निःस्वार्थ सेवा का जीवन इसीलिये अंगीकार करना चाहिये कि उसके मूल में ज्ञान रहता है, बाह्य परिणाम की दृष्टि नहीं। परन्तु निष्काम कर्म में विलक्षणता यह है कि उससे साधक को इतना अधिक लाभ होता है, जितना अज्ञान-जनित स्वार्थ परायणता से कभी प्राप्त हो ही नहीं सकता। स्वार्थ-परायणता का परिणाम होता है संकीर्ण जीवन, जिसका केन्द्र होता है सीमित एवं पृथक व्यष्टिसत्ता का मिथ्या भाव; परंतु निष्काम-कर्म से भेद भ्रम का नाश करने में सहायता मिलती है और हम अनन्त जीवन में प्रवेश कर पाते हैं; जहाँ सर्वात्मभाव की अनुभूति होती है। मनुष्य के पास जो कुछ भी है, वह नष्ट हो सकता है और वह जिस वस्तु की आकांक्षा करता है, यह संभव है उसे कभी प्राप्त न हो,

परंतु जो कुछ वह परमात्मा को अर्पण कर देता है, वह तो लौट कर उसी को मिल जाता है। कर्मयोग के साधन का यही स्वरूप है।

(३) भक्ति अथवा ईश्वरीय प्रेम :—

ज्ञान अथवा कर्म के साधन की अपेक्षा भी भक्ति अथवा प्रेम का साधन और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह प्रेम ही के लिये किया जाता है। वह स्वतः पूर्ण है और किसी दूसरे सहायक की अपेक्षा नहीं रखता। संसार में बड़े बड़े संत हो गये हैं, जिन्होंने किसी भी वस्तु की अपेक्षा न करके भगवत्-प्रेम में ही सन्तोष माना था। वह प्रेम प्रेम ही नहीं है, जो किसी आशा से किया जाता है। भगवत्-प्रेम के अतिरेक में प्रेमी प्रियतम भगवान के साथ एक हो जाता है। प्रेम से बढ़कर कोई साधन नहीं है और प्रेम से ऊंचा कोई नियम नहीं है; और प्रेम के परे कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं है, क्योंकि प्रेम भगवत्-स्वरूप होनेपर अनन्त हो जाता है। ईश्वरीय प्रेम और भगवान् एक ही वस्तु हैं; और जिसमें ईश्वरीय प्रेम का उदय हो गया, उसे भगवान की प्राप्ति हो चुकी।

प्रयत्न के द्वारा सहजस्थिति की प्राप्ति :—

प्रेम को साधन और साध्य दोनों का ही अंग माना जा सकता है; परंतु प्रेम का महत्व इतना अधिक स्पष्ट है कि बहुधा इसे किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति का साधन मानना भूल समझ जाता है। प्रेम के मार्ग में भगवान् के साथ एकीभाव जितना

सुगम और पूर्ण होता है, उतना किसी भी साधन में नहीं होता। जहां प्रेम ही हमारा पथप्रदर्शक होता है, वहां सत्य की ओर ले जानेवाला मार्ग सहज और आनन्दमय होता है। साधारणतः साधना में प्रयत्न रहता ही है, और कभी कभी तो घोर प्रयत्न करना पड़ता है—उदाहरणतः उन साधक को जो प्रलोभनों के रहते वैराग्य के लिये चेष्टा करता है। परन्तु प्रेम में प्रयत्न का भाव नहीं रहता; क्योंकि प्रेम करना नहीं पड़ता, अपने आप होता है। स्वाभाविकपन ही सच्चे ईश्वरत्व का स्वरूप है। ज्ञान की सबसे ऊँची अवस्था को, जिसमें चित्त सर्वथा तत्वाकार हो जाता है, सहजावस्था कहते हैं—जिसमें स्वरूप-ज्ञान अबाधित रहता है। आध्यात्मिक साधना में एक विलक्षण बात यह है कि साधक का सारा प्रयत्न सहजसिद्ध अवस्था को प्राप्त करने के लिये होता है।

कस्तूरी मृग का दृष्टान्तः—

एक कस्तूरी-मृग का-बड़ा ही सुन्दर आख्यान है, जिससे सब प्रकार की आध्यात्मिक साधना का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। एक कस्तूरी-मृग एक बार उत्तराखण्ड के पहाड़ों में विचर रहा था। सहसा उसे कहीं से ऐसी मनोमोहक गन्ध आती प्रतीत हुई, जिसका उसने जीवन में कभी अनुभव नहीं किया था। उस गन्ध से वह इतना मुग्ध हो गया कि वह उसके उद्गम-स्थान का पता लगाने के लिये चल पड़ा। उस वस्तु को प्राप्त करने के लिये उसके मन में इतनी तीव्र उत्कण्ठा थी कि वह

हिमप्रदेश की कठोर सर्दी की तनिक भी परवा न कर इधर-से-उधर दौड़ने लगा। कड़ाके की सर्दी में तथा जेठ की दुपहरियों के प्रचण्ड घाम में, वर्षा, आँधी, अथवा बिजलीप्रहार की परवा न करके रात-दिन उस सुगन्धित द्रव्य की खोज में जी तोड़कर भागता रहा। उसके मन में न भय था न शंका थी; किन्तु उस सुगन्ध की टोह में एक चट्टान से दूसरे चट्टान को वह भागता रहा भागते-भागते एक जगह उसका पैर इस तरह से फिसला कि वह एक सीधी चट्टान से नीचे गिरा जिससे कि उसके प्राणों पर बन आयी। मरते-मरते उस मृग को यह पता लगा कि जिस सुगन्ध से वह इतना मुग्ध हो रहा था और जिसे पाने के लिये उसने इतना घोर परिश्रम किया, वह उसी की नाभि से आ रही है। किन्तु मृग के जीवन का यह अन्तिम क्षण सबसे अधिक सुखदायक था, और उसके चेहरेपर एक अनिर्वचनीय शान्ति थी।

स्वरूप-ज्ञान ही साधना का लक्ष्य है:—

साधक की आध्यात्मिक साधना उस कस्तूरी मृग की दौड़ धूप के समान है। साधना की चरम सिद्धि में साधक के व्यष्टि-जीवन का अन्त हो जाता है; परन्तु उस क्षण में उसे यह अनुभूति होती है कि एक कार से अपनी सारी खोज और प्रयत्न का विषय वह स्वयं रहा है और जो कुछ भी सुखदुःख का अनुभव उसने किया, जो कुछ भी जोखिम उठायी और जो कुछ भी त्याग और जीतोड़ परिश्रम किया, उस सब का एकमात्र

लक्ष्य अपने स्वरूप का ज्ञान ही था जिस स्वरूप-ज्ञान में वह अपने सीमित व्यष्टिभाव को त्याग कर यह अनुभव करता है कि वह वास्तव में परमात्मा से अभिन्न है और परमात्मा सभी पदार्थों में विद्यमान हैं।

सार्थक के विशिष्ट गुण

(भाग २ रा)

आन्तरिक जीवन की सत्यताओं में प्रवेश

यद्यपि ईश्वरानुभूति सभी मनुष्यों की चरम भवितव्यता है, तथापि इस भवितव्यता की प्राप्ति के लिए, बहुत थोडे मनुष्यों की ही तैयारी होती है। संसारी मनुष्यों का मन संचित संस्कारों की सघन राशियों से तमाधित रहता है; और इन संस्कारों के यथेष्ठ दुर्बल हो जाने पर ही साधक के लिए आध्यात्मिक साधना-पथ में प्रवेश करना शक्य होता हैं। संस्कारों की संचित राशियों को धीरे धीरे व्यय तथा क्षय करने की सामान्य पद्धति यह है कि मनुष्य धर्म-प्रतिपादित तथा शास्त्र-विहित बाह्य आचार-विचार तथा विधि-नियमों का जितनी निष्ठा के साथ संभव हो, उतनी निष्ठा के साथ पालन करे। धार्मिक आदेशों वा परंपराओं का अनुसरण तथा पालन करने की यह स्थिति शरीयत या कर्ममार्ग का अवलंबन कहलाता है। प्रतिदिन ईश-प्रार्थना करना, तीर्थस्थानों की यात्रा करना, धर्म शास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित कर्त्तव्यों का पालन करना, तथा नीति-संहिता के उन सुस्थापित नियमों का अनु-

बाह्य नियमानुसरण तथा बाह्य आचार पालन का लाभ तथा सीमाएँ

सरण करना जो समय को सामान्य नैतिक चेतना के द्वारा स्वीकृत हो—इत्यादि कार्य कर्ममार्ग के अंतर्गत है। **कर्म मार्गावलंबन की यह स्थिति अपने निजी ढंग से आध्यात्मिक संयम के लिए लाभप्रद होती है। किन्तु वह पूर्णतः बुराइयों से रहित नहीं है, क्योंकि बाह्य रूढियों तथा रीति-रिवाजों का पालन करने से, बहुधा मनुष्य न केवल शुष्क कठोर तथा यंत्रतुल्य बन जाता है, किंतु उसमें एक प्रकार का सूक्ष्म अहंभाव भी उत्पन्न हो जाता है।** किंतु बहुतेरे लोग कर्ममार्ग से आसक्त होते है, क्योंकि अपनी मनोदेवता को शांत करने का यह सुलभ तरीका है।

बाह्य विधि-नियमों तथा बाह्य आचार-विचार से शिक्षा ग्रहण करने में जीवात्मा को बहुधा अनेक जन्म लग जाते हैं; किंतु मनुष्य के जीवन में एक ऐसा समय अवश्य आता है, जब यह बाह्यविधि नियमों का पालन करते करते थक जाता है। तथा आंतरिक जीवन की सत्यताओं में अधिक दिलचस्पी लेने लगता है। जब संसारी मनुष्य यह उच्चतर शोध आरंभ करता है, तो यह कहा जा सकता है कि वह साधक बन गया। जिस प्रकार कीड़ा एक शरीर बदल कर दुसरा शरीर धारण (Metamorphosis) करता है, तथा इस प्रकार एक नये जीवन में प्रवेश करता है, उसी प्रका

आंतरिक जीवन की सत्यताओं की ओर अग्रसर होना।

जीवात्मा बाह्य नियम-निष्ठ (शरीयत तथा कर्ममार्ग) की स्थिति को पार करके आध्यात्मिक स्वतंत्रता (तरीकत या मोक्षमार्ग) की स्थिति में प्रवेश करता है। इस उच्चतर अवस्था में पहुंचने पर जीवात्मा कुछ बाह्य विधि-नियमों के अनुसरण मात्र से संतुष्ट नहीं होता किंतु वह उन विशिष्ट गुणों को प्राप्त करना चाहता है जिनके प्राप्त करने से उसका आंतरिक जीवन आध्यात्मिक दृष्टि से शुचि और सुंदर हो जाय।

परंपराओं की संकीर्णताएं।

आंतरिक जीवन की सत्यताओं के दृष्टिकोण से रीति-रिवाजों एवं रूढियों और शिष्टाचारों के अनुसार जीवन व्यतीत करना बहुधा निरर्थक होता है; तथा बाह्य नियमानुसरण तथा आचार पालन को त्याग देनेवाला जीवन, बहुधा, आध्यात्मिक दृष्टि से, अधिक संपन्न और समृद्ध होता है। भूतकाल से चली आनेवाली परंपराओं तथा रूढीयों का पालन करनेवाला मनुष्य प्रायः हमेशा असार तथा मिथ्या मूल्यों के पीछे पड़ जाता है। तथा सारगर्भित तत्वों एवं मूल्यवान सत्यों को छोड़ देता है। परंपरा से चले आनेवाले तथा सर्व-स्वीकृत नियम आध्यात्मिक दृष्टि से सही ही हैं—यह बात नहीं; इसके विपरीत अनेक परंपरागत रूढियां व्यर्थ तथा निरर्थक हैं, और उनका पालन करना वृथा है, क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से, अज्ञानी या औसत दर्जे की बुद्धियों के विचार के परिणाम-स्वरूप ही ये रूढियां अस्तित्व में आयी हैं। भ्रामक

मूल्य तथा मिथ्या महत्व बहुधा परंपरागत होते हैं क्योंकि वे अत्यंत साधारण बुद्धि या मनोवृत्ति के साँचे में ढ़लते हुए चले आते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि परंपरागत रूढियां आवश्यक रूप से बिलकुल मूल्यरहित तथा महत्व-शून्य हैं।

कभी कभी मनुष्य सिर्फ इसीलिए आचार विरुद्ध तथा नियम विपरीत कार्य करते हैं कि ऐसा करने में उन्हें विचित्रता का अनुभव होता है। अद्भुत तथा विचित्र कार्य तथा व्यवहार के द्वारा वे औरों से अपनी पृथक्ता तथा भिन्नता का अनुभव करते हैं, तथा ऐसे अनुभव से उन्हें आनन्द मिलता है। परम्परा-विरुद्ध कार्य तथा आचरण सिर्फ इसीलिये किये जाते हैं, कि वे परंपरागत कार्यों के विरुद्ध होते हैं तथा ऐसा कार्य करने से, मनुष्य औरों से अपनी भिन्नता या श्रेष्ठता का अनुभव करता है। साधारण से असाधारण की ओर इसीलिये रुचि उत्पन्न होती है, कि असाधारण साधारण से विचित्र होता है।

रुढि-मुक्ति तार्किक विचार पर आश्रित होनी चाहिए।

साधारण कार्यों का मिथ्या मूल्य उन्हें लगातार करते रहने के कारण, नीरस मालूम होने लगता है। तथा मन की यह प्रवृत्ति होती है, कि वह मिथ्या साधारण कार्यों को त्याग कर, मिथ्या असाधारण कार्यों में रस लेने लगता है। वास्तव में सारशून्य परंपराओं की त्याग कर, सारशून्य नवीन कार्य करने में कोई लाभ नहीं हैं। उचित तथा बुद्धिमत्ता पूर्ण

कार्य तो यह होगा, कि सारशून्य वस्तुओं को त्याग कर उन वस्तुओं की तलाश करना, जो वास्तव में सारयुक्त तथा मूल्यवान हैं। बाह्य नियम-निष्ठा की स्थिति को पार करने का यह अर्थ वहीं है कि निरे यंत्र की तरह, बिना विचार विवेचना के, नियम-निष्ठा का परित्याग करके नियम विपरीत कार्यों को अपना लेना, या परंपराओं की त्याग कर उच्छृंखलता की स्वीकार कर लेना इस प्रकार का परिवर्तन आवश्यक रूप से, एक प्रतिक्रिया होगा; और ऐसे प्रतिक्रियात्मक जीवन में स्वतंत्रता तथा सत्य की प्राप्ति नहीं होगी। किसी अविचार युक्त प्रतिक्रिया के कारण साधक परंपराओं तथा रूढियों का त्याग नहीं करता। गंभीर विचार विवेचना तथा तर्क सम्मत विवेक बुद्धि की ही कसौटी पर कसने से जब रूढियां तथा परंपराएं खोटी उतरती हैं, तभी वह उन्हें त्याग कर, उनसे मुक्त हो जाता है। जो बाह्य नियमनिष्ठा की स्थिति को पार करके आंतरिक सत्यता के जीवन में प्रवेश करना चाहते हों, उन्हें सद्सद्विवेक बुद्धि तथा सारासार विचार-शक्ति अपना लेनी चाहिए। उन्हीं वस्तुओं की त्यागना चाहिए। जो सारशून्य; तथा उन्हीं वस्तुओं को अपनाना चाहिए जों सार-वान हों।

अतः शरीयत या कर्ममार्ग से तरीकत या मोक्षमार्ग की ओर उन्नति करने का केवल यह अर्थ नहीं है, कि बाह्य नियम, विधि, तथा रूढि, परंपरा, की त्याग देना, या कट्टर

पंथ का परित्याग करके स्वेच्छाचार की ओर अग्रसर होना, या साधारण को त्याग कर असाधारण को अपनाना। कर्ममार्ग की त्याग कर मोक्ष मार्ग की ओर बढने का अर्थ है।

सत्य तथा असत्य की विवेचना।

परंपरागत रूढियों तथा रीतिरिवाजों को विचार विवेचना बिना स्वीकार करने की अवस्था से ऊपर उठ कर सदसद्विवेक की कसौटी पर उन्हें कसना तथा उन वस्तुओं को स्वीकार करना जो महत्व-पूर्ण या सारयुक्त हों, एवं उन वस्तुओं को अस्वीकार करना जो निःसार तथा महत्वहीन हो। **कर्ममार्ग से मोक्ष मार्ग की ओर बढने का अर्थ है, निरे अंध-विश्वास तथा अज्ञानपूर्ण अंधानुकरण की अवस्था को त्याग कर आलोचनात्मक बुद्धिमत्ता की अवस्था में प्रवेश करना।** अंधविश्वासजन्य बाह्य विधि, नियम, पालने की स्थिति में बहुधा मनुष्य का अज्ञान इतना परिपूर्ण रहत है, कि वह यह भी नहीं जानता कि वह अज्ञानी है। किंतु जैसे जैसे मनुष्य की आँखे खुलती जाती हैं, तथा जैसे जैसे वह जाग्रत होता जाता हैं, तथा जैसे ही वह साधना पथ में प्रविष्ट होता है वैसे वैसे वह सच्चे ज्ञान तथा सच्चे प्रकाश की आश्यकता का अनुभव करता जाता हैं। तथा प्राथमिक अवस्थाओं में, **ज्ञान तथा प्रकाश के लिये उसका प्रयत्न, नित्य और अनित्य के बीच विवेक, या सत्य तथा असत्य की विवेचना, या सही और गलत के बीच**

आलोचना, या महत्वपूर्ण तथा महत्व-शून्य की तार्किक परीक्षा, का रूप धारण करता है।

आध्यात्मिक साधक में सत्य तथा असत्य के संबंध में केवल बौद्धिक विवेचना विवेक का होना ही पर्याप्त नहीं है। यद्यपि बौद्धिक विवेचना या तार्किक विवेक उसकी आगे की तैयारी की आधार-शिला है, तथापि विवेचना और विवेक के द्वारा परीक्षित सत्य, जब तक आचरण में नहीं उतारे जायँगे, अर्थात् तर्क बुद्धि की कसौटी पर कसने में खरे उतरनेवाले तथ्यों को, जब तक कार्य में परिणत नहीं किया जायगा, तब तक केवल बौद्धिक-विवेचना विवेक से कोई लाभ नहीं होगा। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सिद्धान्त की इतनी महत्ता नहीं है, जितनी महत्ता आचरण की हैं। मनुष्य की बुद्धि जो विचार, विश्वास, मत, राय, आदर्श तथा सिद्धान्त, जिसको वह 'धारण करता' है, मानवीय व्यक्तित्व के बाह्य सतह को ही छू कर रह जाते हैं। बहुधा यह अधिक होता है, कि मनुष्य विश्वास तो कुछ करता है; किंतु उसका आचरण उसके विश्वास के विपरीत हुआ करता है। **शुष्क विश्वास अर्थात् कोरी सिद्धान्तवादिता का दिवालियापन अधिक शोचनीय इसीलिए है, कि जो मनुष्य ऐसे सिद्धान्त 'गढ़' लेता है, या विश्वास 'कायम' कर लेता है, उसके सिर पर यह भ्रम सवार हो जाता है,**

शुष्क सिद्धान्त वादिता का दिवालियापन

कि वह आध्यात्मिक क्षेत्र में औरों से बढ़ा-चढ़ा है, किंतु यथार्थ में अभी उसने आध्यात्मिक जीवन प्रारंभ तक नहीं किया है।

धार्मिक अंधविश्वास तथा कट्टर पंथावलंबन की मुख्य विशेषताएं।

कभी कभी ऐसा होता है, कि श्रद्धा और निष्ठा के साथ पालन की जानेवाली भ्राँत धारणा के परिणामस्वरूप, जीवन में ऐसे अनुभव आते हैं, जो आध्यात्मिक जीवन का द्वार खोल देते हैं। शरीयत या कर्ममार्ग की अवस्था में भी अंध धर्म-निष्ठा से भी, अनेक निःस्वार्थ तथा उदार कार्यों को करने के लिए प्रेरणा तथा प्रोत्साहन प्राप्त होता है, क्योंकि यद्यपि धार्मिक विधि-नियमों का अंध-विश्वासपूर्वक पालन किया जाता है, तथापि जिस श्रद्धा और निष्ठा के साथ उसका पालन किया जाता है अर्थात् जिस लगन और दृढता के साथ उनका अनुसरण किया जाता है, वे उसकी विचार धारा को गतिमय तत्वप्रदान करती है। शुष्क विश्वास तथा कोरी सिद्धान्तवादिता एवं अंधविश्वास तथा कट्टर पंथ के बीच में यदि तुलना कि जाय तो मालूम होगा, कि अंध-विश्वास तथा कट्टर पंथ में, एक स्पष्ट विशेषता है, जिससे शुष्क विश्वास या कोरी सिद्धान्तवादिता वंचित है, और वह विशेषता यह है, कि कट्टर पंथी तथा धर्म के अंध-विश्वासी मनुष्य, जिन विधि-नियमों या लौकिक रीति आचारों का पालन करते हैं, उन्हें वे केवल बुद्धि से ही नहीं अपनाते, किंतु हृदय से भी

आलिंगन करते हैं। अंध-विश्वास तथा बाह्य नियम-निष्ठा का राज्य व्यक्तित्व के अधिक विस्तृत क्षेत्र पर फैला रहता है, किंतु सैद्धान्तिक मत तथा 'रायें' व्यक्तित्व के उतने अधिक विस्तृत क्षेत्र को अधिकृत नहीं करते।

किंतु अंध मतावलंबन तथा कट्टर पंथानुकरण के जितने सत्परिणाम हैं उतने ही उनके दुष्परिणाम भी हैं, क्योंकि अंध मतावलंबन तथा कट्टर पंथानुकरण में विशेष दोष यह है, कि उनमें जीवन की मार्गदर्शक दृष्टि ही समाच्छादित हो जाती है। इसका कारण यह है, कि अंध-विश्वासी या कट्टर पंथ व्यक्ति या अंध-विश्वासी तथा कट्टर पंथी समाज की आलोचनात्मक बुद्धि या तर्कशक्ति या तो भ्रष्ट हो गयी रहती है, अथवा उसका उपयोग नहीं किया जाता। यद्यपि अंध मतावलंबन तथा कट्टर पंथानुकरण से, कभी कभी व्यक्ति या समाज का कुछ हित हो सकता है, किंतु उनसे बहुधा व्यक्ति तथा समाज की हानि तथा क्षति ही अधिक हुई है, तथा उनसे व्यक्ति और समाज का अवर्णनीय अहित हुआ है। अंध मतावलंबन तथा कट्टर पंथानुकरण में यद्यपि मन तथा हृदय दोनों पूरी निष्ठा के साथ कार्य करते हैं, किंतु उनकी क्रिया में एक असुविधा या बाधा यह रहती है, कि सारासार विवेचना तथा आलोचना संबंधी तर्कवृत्ति ताक में रख दी जाती है। हृदय और मन कार्य करते हैं किंतु तर्क

अंध विश्वास तथा कट्टर पंथ के दुष्परिणामो और बुराइयो का कारण।

काम नहीं करता, या तर्क से काम नहीं लिया जाता। यही कारण है कि अंध-विश्वास तथा कट्टर मतावलंबन से केवल कल्याण ही कल्याण नहीं हुए हैं, किंतु कल्याण की अपेक्षा अकल्याण ही बहुधा अधिक हुए हैं।

बिना तर्क तथा बौद्धिक विवेचना ही स्वीकृत बाह्य तथा विधि नियमों को जब मनुष्य त्याग देता है, तथा तर्क सम्मत एवं विवेकयुक्त आदर्शों और सिद्धान्तों को जब वह ग्रहण करता है, तो कहना चाहिए, एक अर्थ में, वह उस सीमा तक उन्नति करता है, जिस सीमा तक उसके मन ने बिना तर्क वितर्क के किसी मत, विश्वास, या नियम आचार को स्वीकार करना छोड़ दिया है, तथा अब उसने सदसद्विवेक पूर्वक ही किसी भी वस्तु को ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया है। किंतु कट्टर पंथावलंबन तथा अंध विश्वासजन्य बाह्य विधि नियम-निष्ठा की स्थिति में, उसके जीवन में जो लगन और श्रद्धा थी उस लगन तथा श्रद्धा से उसके नवीन आदर्श तथा सिद्धान्त वंचित हैं। यदि उसके नवीन आदर्श तथा सिद्धान्तों में, प्रेरक शक्ति का अभाव रहेगा, तो वे जीवन की बाह्य सतह पर केवल तैरते रहेंगे या व्यक्तित्व के उपरी हिस्से पर, उसी प्रकार ढीले लटकते रहेंगे, जिस प्रकार ओव्हर कोट शरीर पर ढीला लटकता रहता है। यह बात सच है, कि अशिक्षित भावांधता से मन मुक्त् किया जा चुका

सिद्धान्त को आचरण में लाने की आवश्यकता।

है; किंतु हृदय के सहयोग का बलिदान करके यह स्वतंत्रता प्राप्त की गई है। तार्किक विचार विवेचना से ग्रहण किये गये आदर्श तथा सिद्धान्त तभी लाभदायक होंगे, जब वे फिरसे हृदय राज्य पर धावा बोल दें, ताकि उसका खोया हुआ सहयोग पुनः प्राप्त हो जाय। दूसरे शब्दों में जो सिद्धान्त तार्किक समालोचना या बौद्धिक परीक्षा के पश्चात् स्वीकार किये गये हैं, उनके अनुसार पुनः आचरण किया जाय, ताकि उनका पूरा पूरा लाभ प्राप्त हो। जब सिद्धान्त इस प्रकार आचरण में लाये जाते हैं, तो वे और भी सुधरते है, तथा इस प्रकार वे अधिक स्पष्ट तथा सही बनते हैं। इसके अतिरिक्त सबसे अधिक महत्वपूर्ण फल यह होता है कि वे अब जीवन के आंतरिक ताने बाने से गंभीरतापूर्वक गुँथ जाते हैं, केवल बाह्य अलंकार के रूप में नहीं रहते।

समालोचनात्मक तथा रचनात्मक विचार से मन और हृदय की समता उत्पन्न होती है।

बाह्य निष्ठा (अर्थात् शरीयत या कर्ममार्ग) की स्थिति को त्याग कर आंतरिक सत्यताओं के जीवन (अर्थात् तरीकत या मोक्ष-मार्ग) में प्रवेश करने के लिए दो पग आवश्यक हैं (१) अंध-विश्वास तथा अंधानुकरण के आधार पर, बिना विचार तथा तर्क किये ही किसी वस्तु को अपनाने की मानसिक जड़ता से मुक्त होना तथा मन को विचार के द्वारा आंदोलित और व्यवस्थित करना, तथा (२) तर्क

युक्त और विवेक सम्मत विचार के परिणामों को कार्य या आचरण में परिणत करना। विचार कोरा आलोचनात्मक ही न रह कर, जब साथ ही साथ, रचनात्मक भी हो जाता हैं, तभी उससे आध्यात्मिक लाभ की प्राप्ति होती है। आलोचनात्मक तथा रचनात्मक विचार करने से, आध्यात्मिक तैयारी होती जाती है, तथा उन विशिष्ट गुणों का विकास तथा वृद्धि होती है जिनके परिणामस्वरूप मन और हृदय की समता प्राप्त होती हैं, एवं मुक्त दिव्य जीवन प्रस्फुटित एवं अभिव्यक्त होता है।

साधक के लिए विशेष सद्गुण

(भाग २ रा)

(कुछ दिव्य गुणों की आवश्यकता)

मनुष्य का जीवन तभी शांत तथा जाग्रत हो सकता है, जब वह कुछ दिव्य गुणों को विकसित करके उन्हें अपने प्रतिदिन के कार्यों और कर्तव्यों में अभिव्यक्त करे। प्रत्येक गुण स्वयमेव स्वतंत्र रूप से भले ही अधिक महत्वपूर्ण न जान पड़े, किंतु उसे अन्य मुख्य गुणों से अलग करके उसका मूल्य आँकना युक्ति-संगत नहीं है। प्रत्येक गुण का अन्य मुख्य गुणों से गभीर संबध है। आध्यात्मिक जीवन में ये सभी गुण अन्योन्याश्रित तथा एक दूसरे के सहायक होते हैं। एक गुण का पालन करने से दुसरे गुणों का पालन करना सहज होता है। इन गुणों का पारस्परिक संबंध इतना गहरा है, कि एक गुण की पूर्ण अवहेलना करने से, अन्य अनेक मौलिक गुणों को क्षति पहुंचती है। **अतः प्रत्येक गुण की यथार्थ उपयोगिता उस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगी, क्योंकि पूर्ण जीवन के लिए, उन दिव्य गुणों में से प्रत्येक गुण की अनिवार्य आवश्यकता है।**

आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक गुण एक दूसरे पर आश्रित हैं।

धैर्य तथा दृढ आग्रह।

प्रत्येक मनुष्य सत्य का उत्तराधिकारी है, किंतु जो सत्य को अधिकृत करना चाहता है, उसमें उसे प्राप्त करने की तैयारी होनी चाहिए। इस आध्यात्मिक तैयारी के लिए, कभी कभी अनेक जन्मों तक धैर्य-युक्त तथा आग्रहशील उद्योग करते रहने की आवश्यकता होती है। अतएव साधक की अनेक आवश्यकताओं में से एक आवश्यकता यह है, **कि उसमें कभी विचलित न होनेवाली आकांक्षा तथा कभी हार न माननेवाला धैर्य होना चाहिए।** सत्य को प्राप्त करने के लिए, ज्योंही मनुष्य दृढ़-प्रतिज्ञा करता है, त्योंही वह अपने पथ को अनेक कठिनाइयों से भरा पाता हैं। ऐसे लोग बहुत थोड़े होते हैं, जो अंत तक अपने धैर्य तथा साहस को बनाये रखते हैं। विघ्नों से हार मानकर प्रयत्न त्याग कर देना सरल होता है। यह बात पूना के एक मनुष्य के किस्से से स्पष्ट हो जायगी। एक बार उसने एक आध्यात्मिक पुस्तक पढ़ी। वह उससे इतना प्रभावित हो गया कि उसे सब कुछ त्याग देने की इच्छा हुई। पूना छोड़ कर वह एक पास के जंगल में चला गया और वहाँ एक वृक्ष के नीचे बैठ कर, तथा हाथ में माला ले कर, ईश्वर का नाम जपना शुरु कर दिया। उसे अनेक असुविधाएं प्रतीत होने लगी; तथा उसका उत्साह भी कम होते गया; किंतु दिन भर उसने अपना जप जारी रखा।

सूर्यास्त के पश्चात्, चारों ओर से उसे भयभीत जंगली पशुओं की आवाज सुनाई पड़ी; और यद्यपि रात्रि के घोर अंधःकार में यह आवाज बढ़ती गई, तो भी उसकी दृढ़ प्रतिज्ञा पूर्ववत् जारी रही। किंतु अंधेरे में, ज्योंही उसे अपनी ओर भालू आता दिखाई पड़ा, त्योंही प्राण लेकर, वह वहाँ से भागा, तथा अपनी पूरी ताकत भर सात मील दौड़ने के पश्चात्, वह पूना की एक दुकान में पहुंचते ही बेहोश हो कर गिर पड़ा। जब वह होश में आया, तब उसने अपनी बहादुरी का किस्सा उन लोगों को सुनाया, जो वहाँ इकट्ठे हो गये थे, जिसे सुनकर सभी को यथेष्ट मनोरंजन हुआ, किंतु इस घटना के बाद, त्याग के लिए उसकी वृत्ति जाती रही।

संसार जैसा है वैसे ही रूप में उसे स्वीकार करना।

आध्यात्मिक उपयोग के लिए केवल शारीरिक सहनशीलता तथा साहस की ही आवश्यकता नहीं है, किंतु कभी न डिगनेवाली मानसिक, सहिष्णुता, तथा कभी न हटनेवाले नैतिक साहस की भी आवश्यकता है। संसार माया में फँस गया है; तथा निःसार वस्तुओं पर आसक्त है। अतः संसार की गतिविधि उन आदर्शों के विरुद्ध है जो साधक ने अपने लिए निश्चित् किये हैं। यदि वह दुनिया से भाग जाता है तो उससे उसको सहायता नहीं मिल सकती; भागने के बाद उसे संसार में, उस गुण को विकसित करने के लिए फिर वापस लौटना पड़ेगा, जिसके बल पर वह संसार का

सामना कर सके, तथा उसे उसी रूप में सहन कर सके। अधिक तर उसका आध्यात्मिक पथ संसार के ही बीच से जाता है। संसार के रंग ढंग और चाल ढाल को वह भले ही पसंद न करे, किंतु उसे उसी संसार की सेवा करनी पड़ती है। **उसे न समझनेवाले तथा उसके प्रति अनुदार संसार को यदि वह साधक प्रेम करना चाहता है, तथा उसकी सेवा करना चाहता है, तो उसे अपने में अनन्त सहिष्णुता विकसित करनी चाहिए।**

सहिष्णुता।

ज्यों ज्यों साधक, साधना पथ पर अग्रसर होता जाता है, त्यों त्यों गुरु के संपर्क से सच्चे प्रेम की उसकी गंभीरतर अनुभूति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। गंभीरतर तथा उच्चतर प्रेम का आस्वादन कर चुकने के कारण, संसार के ऐसे व्यवहार के प्रति उसका कोमल हृदय पीड़ित हो जाता है, जिनमें प्रेम का तो सर्वथा अभाव रहता ही है, किंतु जो निष्ठुर भर्त्सना, कठोर निंदा, हृदय भेदी तिरस्कार, तथा प्रचंड घृणा से पूर्ण होते हैं। ऐसे व्यवहार मानों उसकी सहिष्णुता की विकट परीक्षा लेते हैं। जब कई अवसरों पर संसार को अपने प्रति उपेक्षाशील तथा विरोधी पाता है, तब संसारी मनुष्य भी पीड़ित हो जाता है,—किंतु वह सहनशील होता है, तथा उनकी पीड़ा उतनी तीव्र नहीं होती, क्योंकि वह मनुष्य स्वभाव से किसी अच्छी बात की अपेक्षा ही नहीं करता, तथा वह समझता है, कि ऐसी बातें अनिवार्य हैं

और वे कभी दूर नहीं हो सकती। **किंतु, साधक गंभीरतर प्रेम का अनुभव कर चुका रहता हैं, अतः वह प्रत्येक आत्मा की प्रच्छन्न संभाव्यताओं को जानता है, संसार की आज कैसी बुरी अवस्था है, किंतु साधक जिस प्रेम का अनुभव तथा अभ्यास कर रहा है, उस प्रेम को संसार यदि थोडे अंश में भी, स्वीकार करे, तो उसकी कितनी अच्छी व्यवस्था हो सकती है, इस विचार से साधक की व्यथा अत्यंत तीव्र हो जाती है।**

नैतिक साहस तथा आत्मविश्वास।

यदि साधक संसार के व्यवहार को बिना विरोध तथा चुनौती के स्वीकार कर ले, और सांसारिक पद्धतियों और प्रणालियों के सम्मुख चुपचाप अपना सिर झुका ले, तो संसार के प्रति सहिष्णुता रखने का उसका कार्य सरल हो जायगा, किंतु, **उच्चतर सत्य की देख चुकने के पश्चात, साधक यह महान एवं सर्वोपरी कर्तव्य हो जाता है, कि वह उस सत्य का दृढ़तापूर्वक पालन करे, तथा समस्त संसार के विरोध करने पर भी उसे न त्यागे।** अपनी समझ तथा अनुभव में आये हुये उच्चतर सत्य के प्रति-निष्ठा को कायम रखने के लिए, कभी डाँवाड़ोल न होनेवाले नैतिक साहस की आवश्यकता है। उच्चतर सत्य तथा सिद्धान्त को नहीं समझनेवाले मनुष्यों की, निंदा तथा घृणा को भी सामना करने के लिए, साधक को तैयार रहना चाहिए। यद्यपि

संसार से विकट संग्राम करते समय, साधक को गुरु तथा अन्य सह-साधकों से कभी न चुकनेवाली सहायता अवश्य मिलती हैं, किंतु उसे सदैव सहायता पर निर्भर नहीं रहना चाहिए, तथा उसे सत्य के लिए अकेले युद्ध करने की योग्यता विकसित करनी चाहिए। यह परम नैतिक साहस तभी आ सकता है, जब साधक अपने आप में, तथा अपने गुरु में दृढ़ विश्वास रखें। **संसार को प्रेम करना, तथा गुरुओं के तरीकों के अनुसार संसार की सेवा करना, दुर्बल तथा अशक्त हृदय वाले मनुष्य का नहीं है।**

चिंता-शून्यता।

नैतिक साहस तथा आत्मविश्वास के साथ ही साथ निश्चिंतता भी होनी चाहिए। चिंता मानसिक शक्ति का जितना भक्षण करती है, उतना कोई चीज नहीं करती; और किसी भी बात की चिंता न करना, एक अत्यंत कठिन कार्य है। जब प्रयत्न में असफलता होती है, या जब बातें संकल्प के विरुद्ध हो जाती हैं, तब चिंता का अनुभव होता है। किंतु जो हो चुका उसके बारे में यह सोचते रहना कि वह वैसा नहीं हुआ होता तो अच्छा होता, बिलकुल वृथा है। **निर्जीव अतीत जैसा हो चुका वैसा ही रहेगा, लाख चिंता करने पर भी वह जैसा हो चुका है उससे कभी अच्छा नहीं हो** जायगा। किंतु सीमित अहंवृत्तिशील मन, भूतकाल से अपने को युक्त कर लेता है। उस पर आसक्त हो जाता है; तथ

मग्न इच्छा-जन्य यंत्रणा को जीवित बनायें रखता है। इस प्रकार मनुष्य के मानसिक जीवन में चिंता की वृद्धि होती जाती है, तथा अंत में उसका मन भूतकाल से लढ़ पड़ता है। भविष्य के संबंध से भी चिंता का अनुभव किया जाता है; विशेष कर तब, जब भविष्य के किसी प्रकार अवांछनीय होने की अपेक्षा की जाती है, और ऐसा होने पर, आशांकित या प्रकाशित आगामी परिस्थितियों से लोहा लेने के लिए, तैयारी करने के प्रयत्न के आवश्यक सहचर के रूप में, चिंता अपने आपको उचित सिद्ध करना चाहती है। किंतु **केवल चिंता करने से ही कोई काम सध नहीं सकता**। इसके अतिरिक्त, अनेक आशांकित या प्रतीक्षित बातें कभी वस्तुतः आती ही नहीं हैं; और यदि आती ही हैं, तो वे वैसी अस्वीकार्य नहीं होती, जैसी कि प्रतीक्षा की जाती थी, इतना ही नहीं, कभी कभी तो आशांकित इच्छा के प्रतिकूल घटनाएं इच्छा के बिलकुल अनुकूल रूप में उपस्थित होती हैं। **चिंता इच्छाओं के द्वारा उत्तेजित ज्वराक्रांत कल्पना का परिणाम है**। चिंता करना अधिकांशतः अपनी स्वयम् की उत्पन्न की गयी यंत्रणा को भोगना है। **चिंता ने कभी किसी का कुछ भी कल्याण नहीं किया है। चिंता से केवल अंतःकरण की शक्तियों का ही अपव्यय नहीं होता, किंतु जीवन के आनन्द तथा संपूर्णता भी कम हो जाती हैं।**

जिन अनेक गुणों को विकसित करना साधक के लिए आवश्यक होता है, उन में प्रसन्नता, उत्साह तथा मानसिक

समता या स्थिरता अत्यंत मुख्य है। चिंता को काट कर जीवन से निकाल बाहर किये बिना ये गुणों को विकसित करना असंभव है। **जब मन उदास, विषण्ण, तथा उद्विग्न रहता है, तो कार्य अस्ताव्यस्त तथा बंधनकारक होते हैं।** इसीलिए सभी परिस्थितियों में प्रसन्न, उत्साहित तथा स्थिरचित्त रहने की परम आवश्यकता है। यदि साधक चिंता को जीवन से निर्मूल उखाड़ फेंकने में सफल नहीं हुआ, तो उन गुणों का विकास करना उसके लिए असंभव है। किंतु चिंता, अतीत के प्रति आसक्ति, या प्रत्याशित भविष्य के प्रति आसक्ति का आवश्यक परिणाम है; और जबतक मन में प्रत्येक वस्तु से पूर्णतः अनासक्त नहीं कर लिया जाता, तबतक चिंता सदैव किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है।

प्रसन्नता, उत्साह तथा समता।

साधना-पथ की कठिनाइयों पर तभी विजय प्राप्त की जा सकती हैं जब साधक में एकनिष्ठता (one pointedness) होगी। यदि सांसारिक व्यवहारों में अंतःकरण की शक्तियां क्षय की जायँगी, तो उसकी उन्नति अत्यंत धीमी होगी। एकनिष्ठता का अर्थ है, दृश्य संसार के समस्त प्रलोभनों की ओर से विरक्ति। मन के समस्त प्रलोभनों तथा आकर्षणों की ओर से उदासीन हो जाना चाहिए, तथा इंद्रियों पर पूर्ण संयम स्थापित हो जाना चाहिए। अतः **सच्चे**

संयम तथा विरक्ति एकनिष्ठता की शर्तें हैं।

ज्ञान की शोध में एकाग्र होने के लिए, संयम तथा विरक्ति दोनों आवश्यक हैं।

साधन-पथ में निश्चित तथा सुस्थिर गति से उन्नति करने के लिए, सद्गुरु के पथ-प्रदर्शन का लाभ प्राप्त करना, एक परम आवश्यक शर्त हैं। सद्गुरु ठीक वही सहायता देते हैं जो साधक की तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति करती है। सद्गुरु केवल यही अपेक्षा करते हैं कि साधक आध्यात्मिक उन्नति के लिए अपनी पूरी शक्ति भर चेष्टा करेगा। वह चेतना के आमूलाग्र परिवर्तन की अपेक्षा नहीं करता। चेतना के आमूलाग्र परिवर्तन की वह वहीं अपेक्षा करता है, जहां ऐसे परिवर्तन के लिए पहले से ही भूमि तैयार हो गयी रहती है। समस्त भौतिक उद्योगों में समय का जैसा महत्व है, वैसे ही आध्यात्मिक उन्नति में भी समय एक आवश्यक तत्व है। सद्गुरु जब साधक को एक बार आध्यात्मिक धक्का दे चुकता है, तो वह तब तक प्रतीक्षा करता है, जब तक साधक उस सहायता को पूर्णता ग्रहण न कर ले। **आध्यात्मिकता के आवश्यकता से अधिक परिमाण की सदैव ही अवांछनीय प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, विशेष कर जब वह अप्रासंगिक होता है। अतः सद्गुरु सावधानी के साथ ऐसे ही क्षण को चुनते हैं, जिस क्षण में उस की मध्यस्थता से अधिक से अधिक परिणाम उत्पन्न हो**

सद्गुरु की सहायता का लाभ उठाना।

सकता है। और इस प्रकार मध्यस्थ होकर सहायता दे चुकने के बाद अनन्त धैर्य के साथ, तब तक रुका रहता है, जब तक साधक को अधिक सहायता की आवश्यकता नहीं होती।

साधक के लिए आवश्यक गुण।

भाग ३

(सेवा करने के लिए तैयार रहना)

मानव जाति की सेवा करने के लिए साधक को सदैव तैयार रहना चाहिए। उसे अपने आप को किसी ऐसे कार्य में नहीं लगाना चाहिए जो उसकी योग्यता के विपरीत हो। उसे वही कार्य चुनना चाहिए जो उसका स्वभाव तथा उसकी योग्यता के अनुकूल हो। किंतु जैसी सेवा करने की उसमें योग्यता हो वैसी सेवा उसे अत्यंत बिकट और अत्यंत कठिन परिस्थिति में भी करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

वैयक्तिक प्रवृत्ति तथा क्षमता के अनुसार सेवा करने की तत्परता।

उसे अनेक मुसीबतें उठानी होंगी किंतु जब भी सेवा करना संभव हो तब सेवा करने की उसकी प्रतिज्ञा अविचलित रहनी चाहिए। उसे सेवा के विचार से आसक्त नहीं होना चाहिए; अर्थात् उस में यह भाव नहीं रहना चाहिए कि अधिक से अधिक परिणाम वह स्वयं ही पैदा करे। यदि सेवा आवश्यक हो तो कितना भी बलिदान करके, तथा

सीमित 'मै' के दावे मुक्त रहना।

कष्ट सहन करके, वह करने के लिए उसे तत्पर रहना चाहिए। किंतु उसे इस मिथ्या भाव में बँध नहीं जाना चाहिए कि "मैं" स्वयं उस सेवा को करने का श्रेय प्राप्त करूं। यदि उस सेवा को करने का विशेषाधिकार या सौभाग्य किसी दूसरे को प्राप्त हो जाय, तो उसे ईर्षा नहीं रखनी चाहिए। यदि वह अपने लिए सेवा करने के अवसर की खोज में रहता है, तो उसका ऐसा करना स्वार्थपरता का ही एक रूप हैं, किंतु आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सेवा वही सेवा है, जिस में स्वार्थ की किंचित् भी भावना न हो। स्वयं अपने ही लिए कुछ प्राप्त करने के लिए, कोई अनुभूत आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। तथा यह भी नहीं सोचना चाहिए कि, मैं औरों को कुछ प्रदान कर रहा हूं। सेवा करने में स्वार्थ का थोडा भी चिन्ह न रहना चाहिए। यदि सेवा आवश्यक हो, तो सेवा करने की भावना स्वतंत्रता के साथ, तथा सहज ही उत्पन्न होनी चाहिए, और उसे सहकारिता के भाव में उत्पन्न होना चाहिए। सेवा करने में "मैं" का दावा बिलकुल नहीं रखना चाहिए। "मैं" ही करूं, ऐसा आग्रह करना स्वार्थ है।

यदि साधक समस्त कार्यों तथा उन के परिणामों से पूर्णतः अनासक्त हो जाता है तो वह महान् कार्य तथा तुच्छ काम के विकारपूर्ण द्वन्द्व से मुक्त हो जाता है। **संसारी मनुष्य अपनी पृथक् सत्ता को अनुभव करते हैं।** अतः ठोस परिमाण के माप दंड के द्वारा अपनी प्राप्तियों का मूल्य

आँकने की उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हुआ करती है, वे बड़ी वस्तुओं का पीछा करते हैं तथा छोटी वस्तुओं की उपेक्षा तथा अनादर करते हैं। किंतु **आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तथाकथित छोटी वस्तुएं बहुधा उतनी ही महत्वपूर्ण सिद्ध होती है, जितनी तथाकथित बड़ी वस्तुएं।** अतः साधक का हेतु छोटी वस्तुओं को बहिष्कार करने तथा बड़ी वस्तुओं की खोज करने का नहीं होना चाहिए। उसे छोटी वस्तुओं और छोटे कार्यों को उतने ही मनोयोग तथा उत्साह के साथ करना चाहिए, जितने मनोयोग और उत्साह के साथ वह बड़ी वस्तुओं पर ध्यान देता है, या बड़े कार्यों को करता है।

छोटी और बडी वस्तुओं के द्वंद्व से छुटकारा।

आध्यात्मिक जीवन में छोटी बातों का भी उतना ही महत्व है जितना बड़ी बातों का। किंतु संसार की परंपराएं इस साधारण सत्य को पहिचानने और मानने में बहुधा असफल रहती है। **परंपरा से चले आनेवाले विचारों का अनुसरण करने से अपने बंधुओं की संभव सेवा करने का क्षेत्र अस्वाभाविक रीति से केवल उन्हीं बातों तक सीमित हो जाता है, जो बातें परंपरागत रूढ़ियाँ के अनुसार महत्वपूर्ण मान ली जाती है।** तथा जीवन के लिए यथार्थतः आवश्यक एवं महत्वपूर्ण

परंपराओं का प्रभुत्व सेवा के क्षेत्र को संकुचित करता है।

अनेक बातें उपेक्षित रह जाती है, जिस के परिणामस्वरूप आध्यात्मिक दृष्टि से, जीवन दीन हीन बन जाता है।

स्वीकृत मूल्य सेवा के क्षेत्र को संकुचित करता है।

इस भांति जिस समाज में जीवन संबंधी भौतिक धारा का प्रभुत्व होता है, उस समाज में भोजन, वस्त्र, या अन्य जीवन की अन्य आवश्यक सुविधाएं तथा सामग्रियाँ औरों को सुलभ करना, सेवा माना जाता है, जिस समाज में बौद्धिक संस्कृति की महत्ता सर्वश्रेष्ठ समझी जाती हैं, उस में कई प्रकार की शिक्षाओं का प्रसार करना, सेवा समझा जाता है, जिस समाज में सौंदर्यानुराग की रुचि अत्यंत विकसित हो जाती है, उस समाज में कला की कृतियों का उत्पादन तथा विभाजन व्यवस्थित करना सर्वश्रेष्ठ सेवा समझा जाता है, जिस समाज में हृदय के अकथनीय सारों को श्रेष्ठ महत्व प्राप्त होता है, वहां हृदय के गुणों का विकास, तथा उनकी अभिव्यक्ति के साधन, और सुविधाएं निर्माण करना सर्वश्रेष्ठ सेवा समझा जाता है। तथा जो समाज आध्यात्मिक जीवन की परम महत्ता को हृदयंगम करता है, वहां आध्यात्मिक-ज्ञान प्रदान करना ही श्रेष्ठ सेवा समझी जाती है। इन विभिन्न प्रकार की सेवाओं में, आध्यात्मिक ज्ञान से संबंध रखनेवाली सेवा सर्वश्रेष्ठ, तथा सर्वोच्च सेवा है, क्योंकि **आध्यात्मिक ज्ञान से ही समस्त मानवीय समस्याओं का सही हल प्राप्त होता है, तथा सभी समस्याएं तथा समस्त प्रश्न**

आध्यात्मिक ज्ञान के दृष्टीकोण मे अंतर्गत हैं।

किंतु आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव में औरों की सेवा करने की इच्छा संकीर्ण धारणाओं से आरुढ होती है। **सेवा के दो प्रकार हैं; औरों के जीवन में वस्तुएं जुटाना, जो वास्तव में मूल्यवान हैं, एक प्रकार की सेवा है तथा औरों के जीवन से उन अडचनों को निकाल बाहर करना, जो वास्तव में मूल्यवान वस्तुओं को प्राप्त करने में बाधक हो, दूसरे प्रकार की सेवा है। और, वस्तुओं के वास्तविक मूल्यसंबंधी हमारे विचार यदि संकीर्ण है, तो उसी अनुपात में औरों की संभाव्य सेवा का क्षेत्र भी संकुचित हो जाता है।**

दो प्रकार की सेवाएँ।

सार्वजनिक संस्थाओं को बडी बडी रकमों का दान करना तथा ऐसे बड़े परोपकार करने से ही सेवा के क्षेत्र का अंत नहीं होता। हिम्मत हारते हुए अवसन्न हृदय को साहस प्रदान करने वाला एक शब्द या निराश जीवन में आशा तथा आनंद उत्पन्न करने वाली एक मुसकान को भी सेवा समझी जाने का उतना ही दावा है जितना दुःसह बलिदानों तथा वीरतापूर्ण कष्ट सहन एवं स्वार्थ त्याग का। एक दृष्टि भी जो दृश्य से कटुता दूर कर देती है तथा नये प्रेम से उसे पूर्णस्पंदित कर देती है, यह भी सेवा है। यद्यपि इसमें सेवा का कोई भाव

छोटी किंतु महत्वपूर्ण बातें।

नहीं रहता। स्वतंत्र रूप से देखा जाय तो ये बातें, बहुत छोटी दिखाई देती हैं; किंतु ऐसी छोटी बातों से ही तो जीवन निर्मित हुआ है, **और यदि ये छोटी बातें उपेक्षित कर दी जाय, तो जीवन न केवल सौन्दर्य रहित हीन हो जाय, किंतु आध्यात्मिकता शून्य भी हो जाय।**

संसारी मनुष्यों के मूल्य आँकने में भूल का कारण।

जिस प्रकार, संसारासक्त मनुष्यों में स्थूल परिमाणों और मात्राओं के दृष्टिकोण से ठोस प्राप्तियों का मूल्य आँकने की प्रवृत्ति होती है, वे (संसारसक्त मनुष्य), इसी प्रकार की भूल, कठिनाइयों, संकटों तथा आपत्तियों का मूल्य आँकने में भी करते हैं। अतः अनेक मनुष्य ऐसे हैं कि संकट पर उनका ध्यान तभी खिचेगा, जब संकट किसी स्थूल दृश्य रूप में उनकी आँखों के सामने उपस्थित होगा। **संसारी मनुष्यों का यह लक्षण है कि वे उन्हीं बातों को महत्व देते हैं, जो बाह्य ढंग से तथा ठोस रूप में साकार उपस्थित होती हैं। आंतरिक जीवन के सूक्ष्म तथा नीख तत्वों की ओर उनका ध्यान नहीं जाता न वे उनका कोई मूल्य आँक सकते।** जैसे घृणा से मरे हुए मृत-सदृश जीवन की अपेक्षा ध्वंसात्मक युद्ध को वे अधिक बडी विपत्ति समझते हैं, यद्यपि पूर्णतः आध्यात्मिक दृष्टिकोण से, कटु तथा विषाक्त घृणा से मरे हुए जीवन, युद्ध की अपेक्षा किसी भी प्रकार कम घातक तथा कम

वंसात्मक नहीं समझे जा सकते। निर्दयता तथा क्रूरता के आँखों देखे उदाहरणों के कारण संसारी मनुष्य युद्ध को इतना कुछ समझते हैं किंतु घृणा, युद्ध से कुछ कम बुरी वस्तु नहीं, यद्यपि वह बाहरी कार्यों में व्यक्त न हो। इसी प्रकार, कभी न तृप्त होने वाली, अदम्य इच्छा से आक्रांत हृदय की यंत्रणाओं की ओर संसारी मनुष्य का ध्यान उतना आकृष्ट नहीं होता जितना कि उनका ध्यान प्लेग, हैजा, जैसी फैलने वाली बीमारियों, शारीरिक घावों तथा मृत्यु की पीडाओं की ओर उनका ध्यान आकृष्ट होता है।

समस्त तथा संपूर्ण जीवन सेवा का क्षेत्र है।

किंतु जो साधक बिना कीर्ति-कामना तथा सन्मान के बिना सेवा करने के लिए उत्सुक है उन्हे वे **तमाम बाते ध्यान देने योग्य हैं, जो पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति के लिए सहायक तथा घातक है, चाहे वे बाते संसार के सामान्य दृष्टिकोण में छोटी हो या बडी हो।** जिस प्रकार सार्वलौकिक जीवन के प्रवाह में साम्राज्यों के उत्थान तथा पतन का महत्व है उसी प्रकार उसमें जीवन के माधुर्य तथा औदासीन्य के भंगुर क्षणों का भी महत्व है। एक का महत्व दुसरी वस्तु के मापदंड से निर्धारित करना नहीं चाहिए। साधक को समस्त जीवन को एक संपूर्ण समष्टि के रूप में देखना चाहिए। **जीवित शरीर में अन्य महत्वपूर्ण अंगों की उपेक्षा करके किसी एक**

अंग पर आवश्यकता से अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए।

जब साधक ऐसी सेवा करता है, जो निःस्वार्थ होती है, तब भी वह मन की चौकसी करता रहता है। साधक को ईमानदार, नम्र तथा निष्कपट होना चाहिए। दिखाने के लिए उसे सेवा नहीं करनी चाहिए। सच्चे प्रेम से प्रेरित हो कर साधक सेवा करेगा, तो उस प्रेम के कारण वह अन्य सहसेवकों से पूर्ण सहकारिता तथा प्रेमभाव रखने में समर्थ होगा, तथा उनसे वह ईर्षा कभी न करेगा। यदि सहसेवकों के बीच पूर्ण सुसंवादिता भाव नहीं है तो साधक जो सेवा करता है उसके द्वारा आध्यात्मिक आदर्श की पूर्ति नहीं होती। इसके अतिरिक्त यदि बिना हार्दिक प्रेम भाव के, साधक केवल ऊपरी या बाहरी सेवा करता है, तो वह कर्तव्य के भाव से सेवा करता है; जैसे अनेकों सांसारिक संस्थाओं में वेतनद्वारा नियुक्त कार्यकर्ता गण करते हैं। संसार की संस्थाओं में मनुष्य वेतन के लिए कार्य करते हैं; अधिक हुआ तो कर्तव्य के नीरस भाव से वे सक्षम होने के लिए प्रेरित होंगे। प्रेम से प्रेरित हो कर सहज रूप से जो कार्य किया जायगा, उसमें जो आंतरिक सौन्दर्य होगा उसका वैतनिक कार्यकर्ताओं के कार्य में सर्वथा अभाव रहेगा।

प्रेम से उत्पन्न होने वाली सेवा, प्रेमद्वारा अन्य सेवकों के प्रति प्रेमभाव उत्पन्न होता है।

यदि साधक को सद्गुरु के संपर्क में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, तो वह सच्ची सेवा की शिक्षा अत्यंत उत्तमता के साथ ग्रहण कर सकता है। सद्गुरु प्रचार तथा मौलिक उपदेश के द्वारा नहीं सिखाता है किंतु उदाहरण के द्वारा सिखाता है, और जब सद्गुरु मानवता की सेवा करता हुआ देखा जाता है, तो वह साधक सद्गुरु के प्रति प्रेम के कारण, शीघ्र ही सेवा करने के वास्तविक भाव को ग्रहण कर लेता है। सहकारिता तथा सहयोग के भाव को सीखने के लिए भी सद्गुरु-सहवास लाभदायक सिद्ध होता है। क्योंकि सभी साधक सद्गुरु को समान रूप से प्रेम करते हैं; अतः उनके बीच प्रेम भाव तथा सहयोग सहज ही उत्पन्न हो जाता है। वे सेवा इस लिए करते हैं, कि सद्गुरु की आज्ञा रहती है या सद्गुरु सेवा चाहते है। वे सद्गुरु का कार्य करते है न कि अपने खुदका। वे अपनी खुद की इच्छा से उसे नहीं करते हैं किंतु इस लिए करते है कि सद्गुरु ने वह कार्य उन्हे सौंप दिया है। अतएव वे वैयक्तिक दावों, हकों तथा विशेषाधिकारों के भाव से स्वतंत्र रहते हैं। वे केवल सद्गुरु के कार्य को उत्तम से उत्तम रूप में रखने की ओर ध्यान देते है, वे सद्गुरु के कार्य को अपनी पूर्ण योग्यता से करने के लिए तत्पर रहते है जब उन्हे कोई कार्य करने के लिए कहा जाता है। तथा उस कार्य को किसी दूसरे सहसेवक

सद्गुरु के संपर्क की महत्ता।

के हाथ में सौंपने के लिए भी वे उसी प्रकार सहर्ष तैयार रहते है, यदि उसकी अपेक्षा वह अधिक अच्छाई से कर सकता है।

इस प्रकार के सहयोग के द्वारा, एक प्रकार से, साधक एक दूसरे की भी सेवा करते हैं क्योंकि सद्गुरु के कार्य को सब अपने ही कार्य की तरह, स्वीकार करते है। तथा सद्गुरु के कार्य को करने के लिए अन्य सहसेवकों की सहायता करने में साधक न केवल सहसाधक के प्रति सेवा करता है, किंतु सद्गुरु के प्रति भी सेवा करता है, किंतु ऐसी सेवा में कोई एक दूसरे पर हुकूमत भी नहीं करता क्योंकि साधकको इस बात का सदैव ध्यान रहता है, कि वह जो काम कर रहा है वह सद्गुरु का काम है, जिसे अपना काम समझ कर वह कर रहा है। वह यह भी जानता है कि साधक की हैसियत से वे सब बराबर है, अतः पूर्ण नम्रता के भाव में सेवा करने की आदत उत्पन्न करना, उसके लिये सरल हो जाता है। यदि सेवा उसे अभिमानी बनाती है, तो उसके लिए यह अच्छा हुआ होता यदि उसने सेवा न की होती। अनेक गुणों को सीखना जैसा कठिन होता है, वैसा **यह गुण सीखना भी कठिन होता है। जिससे, बिना किसी पर हुकूमत किये सेवा करना, बिना आडंबर के सेवा करना, तथा श्रेष्ठ और हीन की भावना से रहित हो**

आडंबर-शून्य सेवा

कर साधक सेवाक्षम बनता है। आध्यात्मिक जगत् में नम्रता का उतना ही महत्व है, जितना उपयोगिता का है।

जब सद्गुरु सेवा करता है, तो वह इस लिए सेवा नहीं करता कि वह सेवा कार्य से आसक्त है, किंतु वह अपने शिष्यों की सहायता करने तथा उनके सामने निःस्वार्थ सेवा का उदाहरण उपस्थित करने के लिए सेवा करता है। औरों की सेवा करते समय सद्गुरु औरों में अपने आप को ही देखता है, तथा ऐसा अनुभव करता है कि उसने अपनी ही सेवा की। कभी भी कम न होने वाली एकता की आनंदपूर्ण अवस्था में सद्गुरु अपने को सभी का स्वामी भी जानता है, तथा सभी का सेवक भी जानता है। अतः वह सेवा के आदर्श को चरितार्थ करके दिखलाता है, जिस में न तो सेवा करने वाले उसके स्वयं के लिए बंधन रहता, और न उसके लिए बंधन होता, जो उसकी सेवा ग्रहण करते है। सद्गुरु सेवा का जो उदाहरण उपस्थित करता है उसे अपने सम्मुख रखने पर साधक शीघ्र ही सच्ची सेवा के आदर्श को अपना सकता है। किंतु साधक की आध्यात्मिक तैयारी तब तक पूर्ण हुई नहीं समझी जा सकती, जब तक उसने ऐसी सेवा करना नहीं सीखा जो भार सी नहीं मालूम पड़ती, अपितु स्वतंत्रता देती है; जो हक, प्रतिहक नहीं, उत्पन्न करती है, वरं जो स्वतंत्र आदान

सेवा का आदर्श।

प्रदान की सहज भावना में की जाती है, जो स्वास्थ-युक्त इच्छा के भार से मुक्त रहती है, तथा जो नित्य नवीन होने वाली तृप्ति के भाव से पोषित होती है।

साधक के विशिष्ट सद्गुण

(भाग ४)

श्रद्धा का महत्त्व तथा उस के रूप।

श्रद्धा साधक के लिए एक अत्यंत महत्वपूर्ण गुण है। श्रद्धा के तीन प्रकार है; (१) अपने आप में श्रद्धा (अर्थात् आत्म-विश्वास) (२) गुरु में श्रद्धा (गुरु पर विश्वास) तथा (३) जीवन में श्रद्धा। जीवन के लिए श्रद्धा की इतनी अनिवार्य आवश्यकता है कि यदि वह कुछ न कुछ अंश में न रहे तो जीवन ही असंभव हो जाय। **श्रद्धा के ही कारण सहयोग-पूर्ण सामूहिक तथा सामाजिक जीवन संभव होता है। पारस्परिक श्रद्धा के ही कारण प्रेम का स्वतंत्र आदान-प्रदान तथा कार्यों और उस के परिणामों का स्वतंत्र तथा पारस्परिक विभाजन सम्भव होता है।** जब पारस्परिक भय तथा पारस्परिक संदेहों से जीवन आक्रांत हो जाता है, तो जीवन कुंठित तथा संकुचित हो जाता है।

बच्चे अपने से बडों में स्वाभाविक श्रद्धा रखते है। वे स्वाभाविक बुद्धि से ही उन्हें अपने सहायक तथा रक्षक मानते है। किसी की सिफारिश भरनेवाली चिट्ठी की उन्हें आवश्यकता नहीं होती। दूसरों पर विश्वास करने का यह गुण आगे के

जीवन में भी भरा रहता है तब तक, जब तक कि मनुष्य दूसरों के द्वारा धोखा खाकर एक कठोर धक्का नहीं पा जाता या दूसरों के स्वार्थ के लिए वह शोषित नहीं होता। अतः यद्यपि श्रद्धा मनुष्य का एक स्वाभाविक गुण है, तथापि वह उसी समाज में विकसित होती तथा फलती-फूलती है जिस समाज में मनुष्य विश्वसनीय तथा ईमानदार तथा श्रद्धा करने योग्य होते हैं। शत्रुता के वातावरण में श्रद्धा लुप्त हो जाती है। पारस्परिक श्रद्धा निर्माण होकर दृढ होने के लिए श्रद्धा के प्रतिरूपी (Counterparts) गुणों का साहचर्य पोषक बनता है। **दूसरे, हम पर जो श्रद्धा करे उस श्रद्धा को निभाना तथा औरों पर श्रद्धा करना ये दोनों एक दूसरे के पूरक सद्गुण है। ये गुण वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के अनिरुद्ध प्रवाह के लिए अत्यंत आवश्यक हैं।**

पारस्परिक श्रद्धा तथा उसका आवश्यक सहचारी प्रतिरूप।

एक दूसरे में पूर्ण तथा अवितर्क श्रद्धा आदर्श–जगत् की वस्तु है, व्यावहारिक जगत में वह कुछ खास उदाहरणों में ही पायी जाती है। यद्यपि श्रद्धा अत्यंत आवश्यक एवं वांछनीय है तथापि वह तब तक नहीं आयगी जब तक संसार ऐसे लोगों से पूर्ण न हो जाय जो अनन्त श्रद्धा करने में योग्य हो। ऐसा तभी हो सकता है जब मानव समाज में विश्वस-

अपने आप में श्रद्धा का महत्त्व।

नीयता, दृढ़ता, तथा सहकारिता तथा सहायकता के गुणों का पूर्ण विकास हो जाय। किंतु पारस्परिक श्रद्धा को जन्म देने वाले ये गुण तब तक विकसित नहीं हो सकते जब तक मनुष्य में परम आत्मश्रद्धा या आत्मविश्वास न विकसित हो जाय। **यदि मनुष्य में आत्मविश्वास नहीं है, या अपने में श्रद्धा नहीं है, तो वह उन गुणों का विकास नहीं कर सकता, जिन के कारण वह औरों का विश्वासपात्र बन सके।** यह श्रद्धा या यह विश्वास, कि तुम अनेक प्रकार की संकटापन्न परिस्थितियों में भी जिसे सर्वश्रेष्ठ समझते हो उस के प्रति निष्ठा नहीं त्यागोगे, विश्वसनीय चरित्र की रचना तथा निर्माण की मानों नींव है।

किंतु अपने आप में कभी न विचलित होनेवाली श्रद्धा उतनी ही विरल है जितनी किसी अन्य पुरुष में अवितर्क श्रद्धा।

आत्म-श्रद्धा का सुरक्षित आधार।

बहुत थोड़े ही व्यक्तियों में आत्मश्रद्धा उतने अंशों में विकसित हुई पाई जाती है जिससे वे अपने ऊपर प्रभाव-पूर्ण तथा रचनात्मक संयम रख सकें। अनेकों मनुष्य सही मार्ग का ज्ञान रखते हुए भी उस मार्ग से बारंबार विचलित होते रहते है। उनकी बारंबार की असफलता, हार तथा दुर्बलता उनकी आत्मश्रद्धा को बारबार खंडित तथा भग्न करती जाती है। उनकी बार-बार की विफलता उनकी आत्मश्रद्धा के लिए एक चुनौती होती है और उनकी आत्मश्रद्धा डावाडोल होकर उखडने

लगती है। जो आत्मश्रद्धा इस प्रकार निरंतर नष्ट-भ्रष्ट होने के खतरे में रहती है, वह फिर से सुरक्षित तथा सुस्थापित की जा सकती है, यदि मनुष्य की आंखों के सामने पूर्णता का सजीव उदाहरण उपस्थित हो, और वह उसमें श्रद्धा रखे।

गुरु के प्रति श्रद्धा रखनेसे आत्म-श्रद्धा की रक्षा तथा वृद्धि करने में सहायता मिलती है। गुरु में विश्वास तथा जीवन के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। गुरु के प्रति श्रद्धा रखने से असफलताओं तथा पराजयों, विघ्नों तथा संकटों, दोषों तथा दौर्बल्यों के होते हुये भी अपने आपके प्रति तथा जीवन के प्रति श्रध्दा टूटती नहीं है। गुरु-विश्वास, गुरु-भक्ति या गुरु-निष्ठा इसीलिए महत्वपूर्ण है। मनुष्य जानता है कि उसका जीवन तथा अनेकों मनुष्यों का जीवन संकीर्ण विकृत तथा दूषित है; किंतु गुरु के जीवन में वह अनन्तता, पवित्रता तथा निर्विकारिता का दर्शन करता है। गुरु में मनुष्य अपने ही आदर्श को कार्य में परिणत हुआ देखता है; उसका अंतरात्मा जो होना चाहता है, वही उसका गुरु हो चुका रहता है। उसके भीतर जो सर्व-श्रेष्ठ रहता है, उसीका प्रतिबिंब वह गुरु में देखता है; किंतु उसके भीतर जो सर्वश्रेष्ठ रहता है वह अभिव्यक्त नहीं हुआ रहता है और उसे आशा

गुरु के प्रति श्रद्धा।

रहती है कि वह एक न एक दिन निःसंदेह अभिव्यक्त होगा। अतएव गुरु-श्रद्धा, मनुष्य में सुप्त दिव्यता की अनुभूति के लिए एक प्रेरक शक्ति होती है।

सच्ची श्रद्धा आत्मा के गंभीर अनुभवों तथा शुद्ध अंतःप्रज्ञा (Pure Intuition) के निर्दोष निर्णयोंपर आश्रित रहती है। श्रद्धा (विश्वास) को अलोचनात्मक तर्क का अंतर्विरोधी समझना ठीक नहीं है। श्रद्धा आलोचनात्मक तर्क का अचूक मार्ग-दर्शक है। **शुद्ध अंतःज्ञान पर आश्रित, गंभीर एवं सजीव श्रद्धा के द्वारा जब अलोचनात्मक तर्क कार्य में परिणत किया जाता है, तब उसकी क्रिया शुष्क, निष्फल तथा अर्थशून्य न होकर, रचनात्मक, फलोत्पादक तथा महत्वपूर्ण होती है।** इसके विरुद्ध यह बात सच है कि कई प्रकार के सरल अंध-विश्वास केवल आलोचनात्मक तर्क की निर्भीक तथा स्वतंत्र क्रिया के ही द्वारा भंग किये जा सकते हैं। तथापि यह भी उतना ही सच है कि आलोचनात्मक तर्क केवल ऐसे ही विश्वासों को छू सकता है या केवल ऐसे ही विश्वासों की विवेचना कर सकता है जो शुद्ध अंतःप्रज्ञापर आश्रित नहीं रहते। किंतु शुद्ध अंतःप्रज्ञा के द्वारा प्रेरित विश्वास सदैव एक अनिवार्य कर्तव्य होता है और तर्क बुद्धि के द्वारा उसकी विवेचना करना अंततोगत्वा असंभव सिद्ध होता है। अंतःप्रज्ञा-प्रेरित विश्वास सीमित बुद्धि से उत्पन्न नहीं होता

श्रद्धा तथा परीक्षणात्मक तर्क।

वह बुद्धि से परे किसी अधिक मौलिक तथा आंतरिक उद्‌गम-स्थान से उत्पन्न होता है। अतएव वह बुद्धि के उपद्रव-उत्पात या तर्क के चंचल नर्तन से चुप नहीं किया जा सकता। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि चूँकि विश्वास तर्क-बुद्धि की कसौटीपर नहीं कसा जा सकता अतः उसे किसी भी अवस्था में अंधा होना चाहिए। **सच्ची श्रद्धा अंधता नहीं है; किंतु एक प्रकार की दृष्टि है; उसे परीक्षणात्मक तर्क की स्वतंत्र क्रिया से डरने की कोई आवश्यकता नहीं है।**

गुरु की परीक्षा करनेका अधिकार शिष्यों को सदैव ही दिया गया है; किंतु **परीक्षा करने के पश्चात् तथा गुरु की पूर्णता के बारे में संतुष्ट होने के पश्चात यदि शिष्य में विश्वास-चांचल्य उत्पन्न होता है, तो उस में उद्देश्य-निष्ठा का शोचनीय अभाव ही अवश्य है।** उस में दृढता तथा सचाई की दयनीय न्यूनता होने के फल स्वरूपही उसमें ऐसे विश्वास-चांचल्य की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान का दावा करने वाले अयोग्य व्यक्तियों पर अंध-विश्वास करने वालों के अनेक उदाहरण पाये जाते है उसी प्रकार अपने निजी अनुभव का प्रामाणिक आधार रहने पर भी अनुचित विश्वास-चांचल्य उत्पन्न होने के अनेक उदाहरण देखे जाते है, और जिस प्रकार अंध-विश्वास अनेक सांसारिक इच्छाओं की अचेतन क्रिया का

विश्वास तथा संदेह का विश्लेषण।

परिणाम होता है उसी प्रकार अनुचित विश्वास-चांचल्य भी इच्छाओं की अचेतन क्रिया के कारण उत्पन्न होता है। अज्ञात रूप से कार्य करने वाली इच्छाएं युक्ति-सिद्ध विश्वास की सफल अभिव्यक्ति का विरोध करती हैं और इसी कारण विश्वास में चंचलता पैदा होती है। **प्रथम प्रकार की इच्छा अनुचित विश्वास की जननी होती है; तथा दूसरी प्रकार की इच्छा अनुचित संदेह की जननी होती है।**

तृष्णाओं का यह स्वभाव है कि वे आलोचनात्मक तर्क की क्रिया को विकृत कर देती है; तथा **शुद्ध अंतःप्रज्ञापर आश्रित अचंचल विश्वास ऐसे ही मन को प्राप्त होता है, जो विभिन्न चाहों के भार से मुक्त रहता है।**

विश्वास-चांचल्य का कारण अज्ञातरूपसे कार्य करने वाली तृष्णाएं है।

अतएव सच्चा विश्वास क्रमशः विकसित होता है। जिस अनुपात में अपनी चेतना को विभिन्न चाहों से मुक्त करने में शिष्य सफल होता है उसी अनुपात में उसके विश्वास की वृद्धि होती है।

यह बात सावधानीपूर्वक समझ लेनी चाहिए कि श्रद्धा निरे बौद्धिक विश्वास या 'राय' से भिन्न है। जब मनुष्य की किसी व्यक्ति के बारे में अच्छी राय होती है तो, कहना चाहिए, वह उस में एक प्रकार की श्रद्धा रखता है। किंतु इस प्रकार की राय में वह आध्यात्मिक क्षमता नहीं रहती जो गुरु

बौद्धिक विश्वास तथा मत।

के प्रति सजीव श्रद्धा में होती है। मनुष्य के बौद्धिक विश्वास तथा मत अधिकतर मानवीय अंतःकरण के अत्यंत बाह्य स्तर होते हैं; उन का अंतःकरण भी गंभीर-तर शक्तियों से कोई मौलिक संबंध नही रखता। वे मन के एक भाग में रहते है; और वे **व्यक्तित्व के उस अंतर में मौलिक परिवर्तन उत्पन्न नहीं करते, जो जीवन के प्रति रूख निर्दिष्ट करता है**। मनुष्य ऐसे विश्वास वैसे ही रखते है जैसे वे कपड़े पहनते है। आवश्यकता के समय, वे तात्कालिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए कपड़े बदल देते हैं। **ऐसे उदाहरणों में विश्वास अज्ञात रूप से अन्य उद्देश्यों के द्वारा निर्दिष्ट होते है। उद्देश्य ज्ञानतः विश्वासों के द्वारा निर्दिष्ट नहीं होते।**

सजीव श्रद्धा रचनात्मक एवं प्रेरणात्मक शक्ति होती है।

इसके विपरीत, सजीव श्रद्धा का अंतःकरण की समस्त गंभीरतर शक्तियों तथा उद्देश्यों के साथ अत्यंत गहरा एवं मौलिक संबंध रहता है। सजीव श्रद्धा अंतःकरण की उपरी सतह परही नहीं तैरती रहती है और न वह चेतना के बाह्य भागपर विश्वासों के समान लटकती रहती है। इसके विरुद्ध सजीव श्रद्धा ऐसी प्रबल शक्ति होती है जो समूचे अंतःकरण का पुनर्निर्माण करती है। वह रचनात्मक तथा संचालक शक्ति से संपन्न होती है। **ऐसा कोई विचार नही, जो उसके द्वारा सजीवित न होता हो; ऐसा कोई भाव नही, जो उसके द्वारा उद्दीप्त**

होता हो; ऐसा कोई उद्देश्य नहीं, जो उसके द्वारा पुनर्निर्मित न होता हो। गुरु के प्रति ऐसी सजीव श्रद्धा शिष्य में परम पोत्साहन तथा अटल आत्मविश्वास उत्पन्न करती है। गुरु-श्रद्धा गुरु के संबंध में किसी कोरी राय के द्वारा, अपने आपको अभिव्यक्त नहीं करती है; किंतु वह गुरु पर पुर्णतः निर्भर रहने की भावना के द्वारा, अपने आपको अभिव्यक्त करती है। **गुरु के प्रति सजीव श्रध्दा रखना शिष्य के द्वारा गुरु को प्रमाणपत्र या प्रशंसापत्र देने के तुल्य नहीं है। वह है गुरु में सजीव श्रद्धा रखना, गुरु में सक्रिय निष्ठा रखना, गुरु निष्ठा का अर्थ है, बिना तर्क-वितर्क के या बिना शंका-संदेह के गुरुपर निर्भर रहना, तथा गुरु से सहायता प्राप्त करने की अपेक्षा करना तथा आत्मसमर्पण तथा अनन्य भक्ति की भावना से गुरु की शरण में अपने आपको छोड़ देना।**

ऐसी सक्रिय एवं सजीव गुरु-श्रद्धा किसी गंभीर अनुभव के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती है जो गुरु के द्वारा अधिकारी शिष्य को प्रदान किया जाता है। बिना सोच विचार के परिणाम स्वरूप जो विश्वास उत्पन्न होता है, या बाह्य विचार के परिणाम स्वरूप जो विश्वास उत्पन्न होता है, उनमें तथा गुरु के प्रति उत्पन्न होने वाली श्रद्धा में मौलिक भेद है। कोरे बौद्धिक विश्वासों का बहुत

सजीव श्रद्धा अनुभव पर आश्रित रहती है।

कम आध्यात्मिक महत्व है। अतएव गुरु को इस बात से मतलब नहीं रहता कि उसका शिष्य उसपर विश्वास करता है या किसी अन्य पर विश्वास करता है और इस बातकी भी पर्वा नहीं करता कि उसका शिष्य उसपर विश्वास करता है या नहीं करता। यदि किन्हीं किन्हीं शिष्यों को गुरु के अनुग्रह का पात्र बनने का सौभाग्य प्राप्त होता है और गुरु उन्हें अपनी अनुकंपा प्रदान करके उनमें अपने प्रति सजीव श्रद्धा (जो कोरे विश्वास से भिन्न होती है) उत्पन्न करता है तो वह ऐसा इसलिए करता है कि वह उन शिष्यों में उसके अनुग्रह का फल उत्पन्न होगा।

शिष्य की परीक्षा।

जिस प्रकार, शिष्य इस बात में गुरु की परीक्षा लेता है, कि गुरु में पथ-प्रदर्शन करने की योग्यता है या नहीं, उसी प्रकार, गुरु शिष्य की इस बातमें परीक्षा लेता रहता है, कि शिष्य में ध्येयनिष्ठा है या नहीं।

गुरु इस बात की जरा भी पर्वा नही करता है कि उसका शिष्य उसपर श्रद्धा करता है या संदेह करता है; गुरु सिर्फ इस बात में परीक्षा लेता रहता है कि शिष्य में अपने आध्यात्मिक अनुसंधान तथा साधना के प्रति अनन्य सचाई तथा दृढ लगन है या नाहीं। शिष्य को अपनी आध्यात्मिकता का सबूत देने की ओर गुरु की रुचि नहीं रहती। वह ऐसा सबूत तभी देता है जब यह समझता है कि उसे आत्म-

समर्पण करने वाले शिष्य के आध्यात्मिक लाभ के लिए ऐसा सबूत देना अत्यंत उपयोगी तथा अनिवार्य रूपसे आवश्यक सिद्ध होगा।

माया—भाग—१—मिथ्या मूल्य

प्रत्येक व्यक्ति सत्य को जानना तथा अनुभव करना चाहता है किंतु सत्य अपने वास्तविक स्वरूप में तबतक जाना तथा अनुभव नहीं किया जा सकता, जबतक अज्ञान के वास्तविक स्वरूप को जाना तथा अनुभव न किया जाय। सत्यका वास्तविक स्वरूप तभी जाना और अनुभव किया जा सकता है, जब असत्य का वास्तविक स्वरूप जाना और अनुभव किया जाय। इसी लिए माया अर्थात् अज्ञान के तत्व को समझने की आवश्यकता तथा महत्ता उत्पन्न होती है। लोग माया के संबंध में पढ़ते तथा सुनते बहुत है; किंतु माया वास्तव में क्या है यह समझने वालों की संख्या बहुत थोड़ी है। माया का केवल मात्र बाह्य ज्ञान पर्याप्त नहीं है। यह आवश्यक है, कि माया जैसी है वैसी ही वह समझी जाय, अर्थात् उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जाय। **माया अर्थात् अज्ञान के तत्व को समझना संसार के आधे सत्य को जानना है।** जीवात्मा को आत्मज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है, जब उसके सब प्रकार के अज्ञान नष्ट हो जाय। अतः जो असत्य है उसे जानना, उसे असत्य है- ऐसा

माया के मिथ्यात्व को समझने का महत्व।

जानना, तथा असत्य को असत्य है ऐसा जानकर असत्य से मुक्त होना—मनुष्य के लिए अनिवार्यतः आवश्यक है।

मिथ्यात्व का मौलिक स्वभाव क्या है? यदि सत्य सत्य केही रूपमें जान लिया गया तथा असत्य असत्य के रूपमें जान लिया गया, तो फिर मिथ्यात्व नहीं रह जाता किंतु एक प्रकार का ज्ञान ही प्राप्त हो जाता है। **मिथ्यात्व का अर्थ है, सत्य को असत्य समझना, या असत्य को सत्य समझना-अर्थात् किसी वस्तु को वह वास्तव में जो है, उससे भिन्न समझना। अतः मिथ्यात्व वस्तुओं के स्वभाव को समझने में भूल करना है।**

मिथ्यात्व का सार।

स्थूल दृष्टि कोणसे दो प्रकार के ज्ञान हैं (१) अस्तित्व के तथ्यों के संबंध में पूर्णतः बौद्धिक ज्ञान (Judgments of Fact) तथा (२) वस्तुओं के सारासार का ज्ञान (Judgments of Valuation) जिसका अर्थ है वस्तुओं का महत्व समझना या उनका मूल्य आँकना। वस्तुओं के मूल्यों से किसी न किसी प्रकार संबंध रहने के ही कारण पूर्णतः बौद्धिक निर्णयों या विश्वासों का महत्व है। यदि मूल्यों से उनका कोई संबंध न रहे तो उनका स्वयमेव अत्यंत स्वल्प महत्व होगा। जैसे, किसी वृक्ष के पत्तों की यथार्थ संख्या को गिनने में कोई भी मनुष्य कोई विशेष रुचि नहीं रखता, यद्यपि पूर्णतः सैद्धांतिक दृष्टिकोण से

ज्ञान के दो प्रकार।

वृक्ष के पत्तों की संख्या का ज्ञान भी एक प्रकार का ज्ञान है। किंतु ऐसा ज्ञान महत्व-पूर्ण नहीं समझा जाता, क्योंकि अन्य मूल्यों से इस ज्ञान का कोई मौलिक संबंध नहीं है। बौद्धिक ज्ञान तभी महत्वपूर्ण बन जाता है, जब उसकी सहायता से मनुष्य किन्हीं मूल्यों की अनुभूति करने में समर्थ होता है। जब बौद्धिक ज्ञान की सहायतासे उन साधनों को मनुष्य वशीभूत करनेमें समर्थ होता है, जिन के द्वारा, वह मूल्यों की अनुभूति कर सकता है, तभी बौद्धिक ज्ञान का महत्व है। कहने का तात्पर्य यह है, कि **बौद्धिक ज्ञान तभी महत्व-पूर्ण है, जब उसके द्वारा सारभूत मूल्यों के प्राप्ति में सहायता मिलती है, या जब स्वीकृत सारों या मूल्यों को वह संशोधित तथा प्रभावित करता है।**

जैसे ज्ञान के दो प्रकार हैं वैसे ही मिथ्यात्व के दो प्रकार है, (१) उन वस्तुओं को सत्य समझने की भूल करना जो सत्य नहीं है, तथा (२) मूल्य आँकने में भूल करना। मूल्य आँकने में तीन प्रकार से भूलें की जाती है; (अ) महत्व-शून्य को महत्व-पूर्ण समझने की भूल, या (ब) महत्व-पूर्ण को महत्व-शून्य समझने की भूल, या (स) किसी वस्तुको वह महत्व देने की भूल जो उसके असली महत्व से भिन्न है। ये सभी मिथ्यात्व माया की सृष्टियां हैं।

वस्तुओं का मूल्य आँकने में या उनके सारासर का निर्णय करने में तीन प्रकार की भूलें।

यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि कोण से सभी प्रकार के मिथ्यात्व माया के भीतर सम्मिलित हैं तथापि कुछ मिथ्यात्व ऐसे हैं जो मुख्य हैं तथा कुछ मिथ्यात्व ऐसे हैं जो गौण हैं। यदि कोई मनुष्य एक सिंहासन को जितना बड़ा वह है उससे थोड़ा अधिक बड़ा समझता है तो उसका ऐसा समझना मिथ्यात्व है यद्यपि यह मिथ्यात्व गौण है और इसका कोई विशेष परिणाम नहीं होता। इसके विपरीत, यदि कोई मनुष्य सिंहासन को अपने जीवन का सर्वस्व समझता है तो यह भी मिथ्यात्व होगा किंतु यह एक ऐसा मिथ्यात्व है जिसका उसके जीवन-क्रम पर मौलिक प्रभाव तथा परिणाम उत्पन्न होता है। **सारांश, यह कि कुछ दृश्यात्मक तथ्यों से संबंध रखने वाले पूर्णतः बौद्धिक निर्णयों की भूलों की अपेक्षा वस्तुओं के मूल्य आँकने या वस्तुओं के सारासार का निर्णय करने में की जानेवाली भूलों के अधिक दुष्परिणाम होते हैं। ऐसी भूलों में जीवन को मार्ग-भ्रष्ट करने, विकृत करने तथा सीमित करने की अत्यंत अधिक शक्ति होती है।**

मूल्य आँकने में गलती करने के दुष्परिणाम।

मूल्य-निरूपण की भूलें मानसिक इच्छाओं या चाहों के प्रभाव के कारण होती हैं। **यथार्थ मूल्य वे मूल्य हैं जो स्वयमेव वस्तुओं में हो।** यथार्थ मूल्य अंतरस्थ होते हैं। यथार्थ मूल्य अंतरस्थ होते हैं अतः वे अनन्त तथा नित्य होते

हैं और **उनका मूल्य समय-समय पर तथा मनुष्यों-मनुष्यों के पास बदलते नहीं रहता।** किंतु मिथ्या मूल्य इच्छाओं या चाहों से उत्पन्न होते हैं; वे मानसिक तत्वोंपर अवलंबित रहते हैं। जब कि वे मानसिक तत्वों पर अवलंबित रहते हैं, अतः वे **सापेक्ष** तथा **अनित्य** होते हैं और वे **समय-समयपर तथा मनुष्यों-मनुष्यों के पास बदलते रहते हैं।**

मानसिक चाहों के प्रभाव के कारण मिथ्या तत्वों की उत्पत्ति।

वह मनुष्य, जो सहारा में है तथा अत्यंत प्यासा है, सोचता है कि पानी से बढकर मूल्यवान् वस्तु कुछ भी नहीं है तथा वह मनुष्य, जिसके हाथ में खूब पानी है तथा जो बहुत प्यासा नहीं हैं, पानी को वही महत्व नहीं देता। इसी प्रकार भूखा मनुष्य भोजन को अत्यंत महत्व-पूर्ण समझता है। किंतु वह मनुष्य, जिसने पेटभर भोजन कर लिया है, भोजन के बारे में तबतक सोचता भी नहीं है जबतक उसे भूख न लगे। यही बात उन वासनाओं तथा लालसाओं पर भी लागू होती है जो अपने पूरक विषयों को काल्पनिक तथा सापेक्ष मूल्य प्रदान करते हैं।

उदाहरण।

वासनाओं एवं लालसाओं की तीव्रता या शिथिलता के अनुसार इंद्रिय-पदार्थों का मूल्य अधिक या कम होता है। यदि इन वासनाओं तथा लालसाओं की तीव्रता या आवश्यकता

में वृद्धि हो जाती है तो इनसे संबंध रखने वाले पदार्थों के मूल्य में भी वृद्धि हो जाती है। यदि उनकी तीव्रता या आवश्यकता कम पड जाती है तो पदार्थों का भी मूल्य बहुत कुछ घट जाता हैं। और, यदि वासनाएं तथा लालसाएं कभी सुप्त होती हैं, फिर कभी उग्र होती है, तो जब वासनाएं तथा लालसाएं सुप्त रहती है तब पदार्थों में संभव (Possible) मूल्य रहता हैं और जब ये जाग्रत होती हैं तब पदार्थों में प्रत्यक्ष भासमान (actual) मूल्य हो जाता है। किंतु ये सब मूल्य मिथ्या मूल्य हैं, क्योंकि ये मूल्य स्वयमेव पदार्थों के मूल्य नहीं है; क्योंकि जब सच्चे ज्ञान के प्रकाश में, समस्त वासनाएं तथा लालसाएं पूर्णतः लुप्त हो जाती हैं तो इन वासनाओं और लालसाओं की क्रिया के कारण जिन वस्तुओं को जो महत्व दिया गया रहता है वे वस्तुएं उन उधार मूल्यों से सर्वथा वंचित हो जाती हैं और वे रिक्त तथा महत्व-शून्य दिखाई देती हैं।

मिथ्या मूल्य अन्याश्रित तथा सापेक्ष होते है।

वह अप्रचलित सिक्का, जिसका बाजार में कोई मूल्य नहीं है, मिथ्या समझा जाता है, यद्यपि उसका एक प्रकार का अस्तित्व है, उसीप्रकार, वासनाओं तथा लालसाओं के विषय, जिनकी तुच्छता एवं रिक्तता (Emptiness) ज्ञात हो जाती है, मिथ्या समझे जाते हैं, यद्यपि उनका किसी न किसी प्रकार का अस्तित्व

रहता है। ये विषय एक अर्थ में जहां के तहां रहते है; और उनका अस्तित्व देखा तथा जाना भी जा सकता है; किंतु वे पहले की वही वस्तुएं नहीं रह जाते; उनका वही मूल्य नहीं रह जाता; वे रिक्त हो जाते हैं। ये विषय-वासनाओं तथा लालसाओं से विकृत कल्पना को तृप्ति का मिथ्या आश्वासन देते हैं; किंतु स्थिर तथा शांत ज्ञान, आत्मा से पृथक् इनका महत्व नही देखता।

इंद्रिय-पदार्थों की रिक्तता एवं सारशून्यता।

जब किसी का प्रिय व्यक्ति मर जाता है, तो उसे शोक तथा सुनेपन का अनुभव होता है। किंतु जिसे हमेशा देखते रहो, उसके खो जाने की इस भावना का कारण है, आत्मा से पृथक् रूप पर आसक्त हो जाना। मृत्यु से रूप अंतर्हित हो जाता है, आत्मा नहीं। आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में मरता नहीं, और न वह कहीं दूर चला जाता, क्योंकि वह सर्वत्र है। किंतु देहासक्ति के कारण, रूप महत्व-पूर्ण समझ लिया गया था, तमाम लालसाएं, इच्छाएं, भावनाएं तथा विचार, रूप पर केंद्रित कर लिए गये थे और जब मृत्यु के द्वारा रूप अंतर्हित हो जाता है, तो एक शून्यता का अनुभव होता है जो मृत व्यक्ति के खो जाने के भाव से उत्पन्न होता है। **यदि आत्मा से पृथक् स्वयमेव रूप को मिथ्या महत्व नहीं दिया गया होता, तो**

जो महत्व-शून्य है उसे महत्व-पूर्ण समझना।

मृत व्यक्ति के खो जाने से शोक का अनुभव नहीं होता। सूनेपन का भाव, प्रिय व्यक्ति की सुखद स्मृति, उसके समीप रहने की लालसा, उसके वियोग-जन्य आँसू तथा मृत्यु से उत्पन्न निश्वास—ये सब मिथ्या मूल्य-निरूपण (false valuation) के कारण हैं; ये सब माया की क्रियां हैं। जब महत्व-रहित वस्तु महत्व-पूर्ण समझ ली जाती है, तब हमें माया-क्रिया की एक मुख्य अभिव्यक्ति मालूम हो जाती है। आध्यात्मिक दृष्टि से, यह एक प्रकार का अज्ञान है।

इसके विपरीत, माया की क्रिया के कारण एक महत्त्व-पूर्ण वस्तु महत्व-शून्य दिखाई देती है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से एकमात्र महत्व-पूर्ण वस्तु ईश्वर है। किंतु ईश्वर ही के लिए ईश्वर में रुचि रखने वाले मनुष्य बहुत थोड़े है। यदि संसारी मनुष्य ईश्वर की ओर आँखे फेरते भी है तो वे अधिकांशतः अपने स्वार्थ-युक्त तथा भौतिक उद्देश्य के ही कारण। वे **चाहते है कि ईश्वर उनकी इच्छाओं को पूर्ण कर दे तथा किसी शत्रु के प्रति उनका प्रतिशोध पूर्ण कर दे। वे अपने काल्पनिक ईश्वर से यही सब चाहते हैं। वे वास्तव में सत्य-रूपी ईश्वर की खोज नहीं करते।** वे प्रत्येक वस्तु की लालसा करते है; सिर्फ ईश्वर के सिवा, जिसे वे महत्व-शून्य समझते

जो महत्व-पूर्ण है उसे महत्व-रहित समझना।

हैं। यह भी माया के कारण उत्पन्न अज्ञानांधता है। **वे अन्य तमाम वस्तुओं में सुख खोजते हैं। वे ईश्वर में आनन्द नहीं खोजते, जो नित्य तथा अक्षय आनन्द का उद्गम-स्थान है।**

किसी वस्तु को गलत महत्व देना।

माया की क्रिया के कारण मन किसी वस्तु को वह महत्व देता है, जो उसके वास्तविक महत्व से भिन्न होता है। यह तब होता है, जब बाह्य विधि-नियमों, लौकिक आचारों तथा अन्य धार्मिक साधनों को स्वयमेव साध्य मान लिया जाता है। साधनों के रूपसे या जीवन के उपकरणों या उत्पादानों के रूप में उनके महत्व हैं किंतु ज्योंही साध्य से अलग, स्वयमेव वे महत्व धारण कर लेते हैं त्योंही उन्हें वह महत्व दिया जाता है जो महत्व उनका नहीं है। उनके द्वारा व्यक्त होने वाले सत्यों, तत्वों, तथ्यो या साध्यों की ओर दुर्लक्ष्य कर के या उन्हें कोई महत्व दिये बिना यदि ये बाह्य साधन स्वयमेव महत्व-पूर्ण समझे जाते हैं तो वे जीवन को अभिव्यक्त करने के उद्देश्य की सिद्धि करने के स्थानमें जीवन को बांधते हैं। **जब महत्व-पूर्ण पर महत्व-शून्य का प्रभुत्व हो जाता है, अर्थात् जब प्रधान पर गौण का आधिपत्य हो जाता है, तो हमें मूल्य-निरूपण-संबंधी अज्ञान का तीसरा मुख्य रूप मिलता है।** यह भी माया की क्रिया है।

माया—भाग २; (मिथ्या विश्वास)

मूल्य निरूपण संबंधी मिथ्या भ्रम आत्मा के आध्यात्मिक बंधन के मुख्य पाश हैं। किंतु आत्मा को बाँधने में कुछ मिथ्या विश्वासों का भी महत्वपूर्ण हाथ रहता है। मिथ्या विश्वास मिथ्या मुल्यों को उत्पन्न करते हैं, तथा स्वयं मिथ्या विश्वास भी उन मिथ्या मूल्यों से शक्ति प्राप्त करते हैं, जिनके भ्रम में आत्मा फंस जाता हैं। जिस प्रकार माया मिथ्या मूल्यों की सृष्टि करती है, उसी प्रकार वह मिथ्या विश्वासों की भी सृष्टि करती है। तथा **आत्मा को अज्ञान में फँसाने के लिए माया जिन फंदों का उपयोग करती है, उन में मिथ्या विश्वास तथा मिथ्या मूल्य मुख्य है।**

मिथ्या मूल्य तथा मिथ्या विश्वास माया के फंदे हैं।

मानवीय बुध्दि ज्ञान का घर है; किंतु माया बुध्दि को भी अपने अधिकार में रखती है, और इस प्रकार वह अजेय बन जाती है। जब बुध्दि माया के वशीभूत हो कर कार्य करती है। तो वह मिथ्या विश्वास तथा भ्रमों को उत्पन्न तथा धारण करती है। वह झूठे विश्वासों को ठीक सिद्ध करने तथा उन्हे निरंतर पोषित करने का प्रयत्न करती है, जिससे सत्य का ज्ञान अवरुद्ध हो जाता है। बुद्धि जब इस प्रकार माया के अधीन हो जाती है, तब

बुद्धि मायाके हाथों में रहने वाली गुडिया है।

माया को जीतना या उसका अतिक्रमण करना कठिन हो जाता है। **जो बुद्धि बंधनरहित हो कर स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करती है, वह सत्य का मार्ग तैयार करती है, किंतु जो बुद्धि माया के पाश में बद्ध हो जाती है, वह सच्चे ज्ञान की प्राप्ति में बाधाएं उत्पन्न करती है।**

मिथ्या विश्वास स्वयं-सिद्ध-से प्रतीत होते हैं।

माया के द्वारा उत्पन्न मिथ्या विश्वास इतने बद्ध मूल तथा दृढ होते हैं, कि वे स्वयंसिद्ध सत्य की भाँति प्रतीत होते हैं, वे वास्तविक सत्यों के वेष में प्रकट होते हैं, वे बिना किसी सोच विचार के सत्यवत् स्वीकार कर लिए जाते हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्य विश्वास करता है, कि वह अपना भौतिक शरीर है। सामान्यतः उसे यह ज्ञात नहीं होता कि वह अपने शरीर से भिन्न कुछ और है। वह स्वभावतः बिना किसी प्रमाण के अपने आप को अपना स्थूल शरीर समझ लेता है। वह इस विश्वास को इसी लिए और भी दृढतापूर्वक धारण करता है क्योंकि उसका यह विश्वास विवेक सम्मत प्रमाण से स्वतंत्र रहता हैं।

मनुष्य का जीवन स्थूल शरीर तथा उसकी इच्छाओं के चारों और केन्द्रित हो गया रहता है। वह स्थूल शरीर है-इस विश्वास को त्यागने का अर्थ है, स्थूल शरीर संबंधी समस्त इच्छाओं को त्यागना तथा इन इच्छाओं से उत्पन्न मिथ्या मूल्यों को त्यागना। स्थूल शरीर होने का मिथ्या विश्वास उसकी

शारीरिक इच्छाओं एवं आसक्तियों की पूर्ति में सहायक सिद्ध होता है, किंतु शरीर से भिन्न कोई अन्य वस्तु होने का विश्वास उसकी स्वीकृत इच्छाओं तथा आसक्तियों का विरोध करता है। अतः उसका यह विश्वास कि वह अपना स्थूल शरीर है, स्वाभाविक बन जाता है, यह विश्वास करना उसके लिए सरल होता है तथा इस विश्वास को त्यागना उसे महान कठिन मालूम होता है। इसके विपरित, यह विश्वास, कि वह शरीर से भिन्न कोई वस्तु है, विश्वसनीय प्रमाण चाहता है। यह विश्वास करना उसके लिए कठिन होता है तथा इस विश्वास का प्रतिवाद करना उसके लिए सरल होता है। किंतु यह होने पर भी, जब मन प्रत्येक शारीरिक इच्छाओं तथा आसक्तियों की दासता से मुक्त हो जाता है, तो उसका यह विश्वास, कि वह अपना स्थूल शरीर है, मिथ्या सिध्द हो जाता है, तथा यह विश्वास, कि वह शरीर से भिन्न कोई वस्तु है, सत्य प्रमाणित होता है।

स्थूल शरीर से तादात्म्य।

यदि मनुष्य इस मिथ्या विश्वास को त्यागने में सफल भी हो जाता है कि वह स्थूल शरीर है, तोभी वह इस मिथ्या विश्वास के वशीभूत हो जाता है कि वह अपना सूक्ष्म शरीर है। उसका जीवन सूक्ष्म शरीर तथा उसकी इच्छाओं के चारों ओर केन्द्रित रहता है। वह अपना सूक्ष्म शरीर है, इस विश्वास को त्यागने का उसके लिए अर्थ होता है, सूक्ष्म शरीर से संबंध रखने वाली

सूक्ष्म शरीर से तादात्म्य।

सारी इच्छाओं को त्यागना, तथा इन इच्छाओं के द्वारा उत्पन्न मिथ्या मूल्यों को त्यागना। अतः उसके लिए वह विश्वास, कि वह अपना सूक्ष्म शरीर है, स्वभाविक बन जाता है। तथा यह विश्वास, कि वह अपने सूक्ष्म शरीर से भिन्न कोई अन्य वस्तु है, विश्वसनीय प्रमाण चाहता है। किंतु, जब मन सूक्ष्म शरीर से संबंध रखने वाली सारी इच्छाओं एवं आसक्तियों से मुक्त कर लिया जाता है, तो मनुष्य इस मिथ्या विश्वास का परित्याग कर देता है, कि वह अपना सूक्ष्म शरीर है, उसी प्रकार, जिस प्रकार वह अपना यह विश्वास त्याग देता है, कि वह अपना स्थूल शरीर है।

मानसिक शरीर से तादात्म्य।

किंतु मिथ्या विश्वासों का यहीं अंत नहीं हो जाता। यदि मनुष्य इस विश्वास को भी त्याग देता है कि वह अपना सूक्ष्म शरीर है, तो भी उसे अब यह भ्रामक विश्वास करने में आनन्द आता है, कि वह अपना अहंकार-चित्त अर्थात् मानसिक शरीर है। **मनुष्य मिथ्या विश्वासों को पोषित इसलिए करता है कि ऐसा करने में उसे आनन्द आता है। जीवात्मा के लंबे जीवन के आदि से ही वह अपने पृथक् अस्तित्व के मिथ्या भ्रम से शौक के साथ चिपका रहा है। उसके समस्त विचारों और भावों और कार्यों से निरंतर उसके केवल एक ही विश्वास का गृहीत मानना तथा पोषण किया है अर्थात् पृथक "मैं" के**

अस्तित्व का। इस मिथ्या विश्वास का परित्याग करना कि वह अहंकार चित्त या मानसिक शरीर है उसके लिए अपना सर्वस्व अर्थात् अपनी समूची पृथक् सत्ता को त्यागना है।

इस मिथ्या विश्वास को त्यागने के लिए कि 'वह अपना स्थूल शरीर या सूक्ष्म शरीर है' उसे नाना इच्छाओं तथा आसक्तियों को त्यागना पडता है। नाना इच्छाओं तथा आसक्तियों को त्यागना बहुत प्राचीन समय से पास में रहनेवाली वस्तुओं को त्यागने के समान है। किंतु इस मिथ्या विश्वास को त्यागने में कि 'वह अपना अहंकार चित्त है' उसे अपने पृथक् अस्तित्व के मूल आधार को ही त्यागना पडता है। वह अपने को आज तक जो समझता आया है उसे ही त्यागने की उसे आवश्यकता पडती है। अतः मिथ्या विश्वास के इस अंतिम अवशेष को त्यागना अत्यंत कठिन होता है। किंतु पहले असंदिग्ध सत्य से प्रतीत होनेवाले उसके पूर्ववर्ती मिथ्या विश्वास जैसे वास्तव में सत्य थे उसी प्रकार यह अंतिम विश्वास भी असत्य होता है। पूर्ववर्ती मिथ्या विश्वासों से यह विश्वास कम मिथ्या नहीं होता। **जैसे पूर्ववर्ती मिथ्या विश्वास अनित्य थे वैसे ही यह अंतिम मिथ्या विश्वास अनित्य होता है। जब आत्मा पृथक् अस्तित्व की तृष्णा त्याग देता है तब इस अंतिम मिथ्या विश्वास का भी अंत हो जाता है।**

अंतिम मिथ्या विश्वास का परित्याग।

जब आत्मा अपने स्थूल सूक्ष्म एवं मानसिक शरीरों से अपने को पृथक समझता है तब वह अपने को अनन्त जानता है। किंतु आत्मा के नाते वह कुछ भी नहीं करता, आत्मा केवल अस्तित्व मात्र है। जब आत्मा पर मन का योग होता है तो वह सोचता हुआ प्रतीत होता है, जब आत्मा पर मन के साथ सूक्ष्म शरीर का योग होता है तो वह इच्छा करता हुआ जान पडता है, और जब आत्मा पर मानसिक शरीर तथा सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल शरीर का योग होता है, तो आत्मा कर्म–निरत के सदृश मालूम पडता है। यह विश्वास कि आत्मा कुछ करता है मिथ्या विश्वास है। जैसे मनुष्य विश्वास करता है, कि वह कुर्सी पर बैठा है। परन्तु यह विश्वास आत्मा के स्थूल शरीर से तादात्म्य के कारण पैदा होता है। इसी प्रकार मनुष्य यह विश्वास करता है कि वह सोच रहा है, किंतु यथार्थ में मन सोच रहा है। यह विश्वास कि आत्मा सोच रहा है आत्मा के मन के युक्त हो जाने के कारण उत्पन्न होता है। वस्तुतः सोचने का कार्य मन करता है तथा बैठने का कार्य शरीर करता है। आत्मा न तो सोचता है और न कोई शारीरिक कार्यों को करता है।

आत्मा विचार तथा कार्य से परे है।

हाँ, यह बात सच है कि स्वयं मन ही नहीं सोचता है या स्वयं शरीर ही शारीरिक कार्य नहीं करता है; क्योंकि स्वयं मन का या स्वयं शरीर का पृथक अस्तित्व ही नहीं है।

उनका अस्तित्व आत्मा के भ्रमों की भाँति है और जब आत्मा अज्ञान पूर्वक अपने आप को उनसे युक्त कर लेता हैं तब विचार करने या कार्य करने का आविर्भाव होता है। **आत्मा मन तथा शरीर से युक्त होने पर सीमित "मैं" बनता तथा कार्यों का "कर्ता" बनता है।** किंतु आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में न तो विचारों के लिए उत्तरदायी है और न कार्यों के ही लिए। यह भ्रम कि आत्मा मन है या आत्मा शरीर है तथा यह भ्रम कि आत्मा विचार या कार्यों का कर्ता है, माया या अज्ञान के तत्त्व के द्वारा उत्पन्न होता है।

यह विश्वास कि आत्मा कार्यों का कर्ता है, मिथ्या है।

इसी प्रकार यह विश्वास कि, आत्मा जीवन के सुखों और दुःखों का अनुभव करता हैं या द्वन्द्वों को भोगता है, मिथ्या है। आत्मा अनुभव के द्वन्द्वों से परे है। किंतु आत्मा अपने को उन से परे नहीं जानता। तथा अपने को मन से तथा शरीर से युक्त कर लेने के कारण वह द्वन्द्वों को अपने ऊपर ले लेता है। मन तथा शरीर से युक्त आत्मा सुखों एवं दुःखों को ग्रहण करता है; अतः मनुष्य जिन सुखों तथा दुःखों का अनुभव करता है वे अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। जब मनुष्य यह सोचता है कि वह संसार में सब से दुःखी मनुष्य है तो वह एक ऐसे भ्रम को आलिंगन करता है

यह विश्वास कि आत्मा द्वन्द्वों का भोक्ता है, मिथ्या है।

जो अज्ञान या माया के कारण उत्पन्न होता है। वह वस्तुतः दुःखी नहीं है किंतु वह अपने को दुःखी मानता है, क्योंकि वह मन तथा शरीरों से सम्मिश्रित हो जाता है। यह सच है कि आत्मा से पृथक् न तो अकेला मन ही या न अकेला शरीर ही द्वन्द्वों का अनुभव कर सकता है। आत्मा मन तथा शरीर से युक्त हो कर द्वन्द्वों का भोक्ता बनता है, किंतु आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में द्वन्द्वों से परे है।

इस प्रकार मन तथा शरीरों की योग कार्यों का कर्ता तथा सुखदुःखादि द्वन्द्वों का भोक्ता है। किंतु मन तथा शरीर, आत्मा से पृथक् रहकर स्वतंत्र रूप से स्वयमेव कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के कार्यद्वय के लिए उत्तरदायी नहीं है। **आत्मा का मन तथा शरीर से तादात्म्य होने पर वे कार्यों के कर्ता तथा द्वन्द्वों के भोक्ता बन जाते हैं। किंतु आत्मा का यह तादात्म्य अज्ञान-जन्य हैं, आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में नित्य, निर्गुण, निराकार तथा अनन्त है, वह अज्ञान या माया की क्रिया के कारण सगुण,साकार, सविकार तथा सान्त प्रतीत होता है।**

आत्मा का मन तथा शरीर से तादात्म्य का स्वरूप।

माया—भाग-३ (माया-जन्य भ्रमों का अतिक्रमण)

माया-विमुग्ध अज्ञान विमूढ़ मनुष्य जिन मिथ्या भ्रमों के पाश में बद्ध हो जाता है, वे असंख्य हैं: किंतु **आरंभ से ही, मिथ्या भ्रमों में रिक्तता तथा अपर्याप्तता, थोथापन तथा खोखलापन का भाव विद्यमान रहता है**। तथा शीघ्र या पश्चात उनका मिथ्यात्व ज्ञात हो जाता है। अब यह प्रश्न उठता है कि मिथ्या भ्रम के मिथ्यात्व को हमें कैसे जानें। मिथ्या भ्रम से छुटकारा तभी हो सकता है जब यह ज्ञात हो जाता है कि यह मिथ्या भ्रम है। मिथ्या के मिथ्यात्व का हमें कदापि ज्ञान नही होता यदि मिथ्या का मिथ्यात्व आरंभसे ही उसी मिथ्या में छिपा न रहता।

मिथ्यात्व का दर्शन।

मिथ्यात्व को स्वीकार करना हमेशा पर्यंकारूढ सलोखे (Bedridden Campromise) के भांति अस्थिर रहता है। अज्ञान कितना भी गहरा क्यों न हो, आत्मा मिथ्यात्व को अवश्य चुनौती देती है, और आरंभिक अवस्था में आत्मा की यह चुनौती उस सत्य की शोध की सुरुआत है जो अन्ततोगत्वा समस्त भ्रमों तथा अज्ञानों का

मिथ्यात्व में संदेह तथा भय रहता है।

ऊछेद कर देती है। मिथ्यात्व को स्वीकार करने में सतत वृध्दि-शील अशांति, घोर संदेह तथा अस्पष्ट भय का अनुभव होता है। जैसे, जब मनुष्य अपने आपको तथा औरों को स्थूल शरीर समझता है, तो वह पूर्णतः इस विश्वास से तालैक्य अनुभव नहीं कर सकता। इस मिथ्या विश्वास को आलिंगन करने में उसे अपनी तथा औरों की मृत्यु का डर मालूम होता है। यदि मनुष्य अपने सुखों के लिए रूपों के अपने अधिकार पर निर्भर रहता है तो वह अपने हृदय की गहराई में उसे यह अवश्य अनुभव होता है कि वह बालू की भीत बना रहा है और ऐसा करने से उसे निश्चय ही स्थायी सुख प्राप्त न होगा तथा जिस अवलंबन पर वह व्याकुल विकल होकर आश्रित हो रहा है वह उसे एक-न-एक दिन धोखा देगा। अतः वह अपने बाह्य अवलंबनों के संबंध में गंभीरता पूर्वक सशंक रहता है।

मनुष्य उद्विग्नता पूर्वक अपनी अरक्षितता से परिचित रहता है। वह जानता है कि वह कहीं न कहीं कोई न कोई भूल कर रहा है तथा मिथ्या आशाओं का भरोसा कर रहा है। मिथ्यात्व, धोखा देने वाला, तथा अविश्वासनीय है। वह सदैव उसका आलिंगन किये नहीं रह सकता। वह जानता है कि वह अपने गले को विषैले साँप की माला से सुशोभित कर रहा है। वह जानता

मिथ्यात्व अपने आपको धोखा देता हैं।

है, कि वह अस्थायीरूप से प्रसुप्त ज्वालामुखी पर्वत की चोटी पर बैठा है। **मिथ्यात्व पर असंतोष तथा अपूर्णता, अनिष्यता, तथा नश्वरता की स्पष्ट छाँप अंकित रहती है। मिथ्यात्व में किसी अन्य वस्तु की ओर संकेत रहता है। मनुष्य को ऐसा अनुभव होता है, कि मिथ्यात्व किसी ऐसी वस्तु को छिपा रहा है, जो मिथ्यात्व में दिखाई देने वाली बाहरी वस्तु की अपेक्षा, कहीं आधिक सत्य तथा कहीं अधिक महान है। मिथ्यात्व स्वयं अपने आपको धोखा देता है; और अग्रसर करता है।**

दो प्रकार के मिथ्यात्व।

मिथ्या विश्वास दो प्रकार के होते हैं–(१) **अव्यवस्थित तथा शिथिल विचार** से उत्पन्न होने वाला मिथ्या-विश्वास तथा (२) **दूषित या विकृत विचार** से उत्पन्न होने वाला मिथ्या-विश्वास विकृत विचार से उत्पन्न होने वाले मिथ्या-भ्रम कम हानि-प्रद होते हैं। बुद्धि के उपयोग में कोई **भूल** हो जाने के कारण वे असत्य उत्पन्न होते हैं जो पूर्णतः बौद्धिक होते हैं; किंतु आध्यात्मिक दृष्टि से, वे ही मिथ्या-विश्वास मुख्य हैं, **जो अंध तथा मत्त इच्छों की क्रिया से विकृत हुई बुद्धि के द्वारा उत्पन्न होते हैं।**

इन दो प्रकारों के मिथ्या विश्वासों का अंतर शरीर व्यापार संबंधी (Physiological) सादृश्य से स्पष्टतः समझा जा

सकता है। शरीर के प्रधान अंगों के कुछ रोग इनके व्यापार से संबंध रखते हैं (functional) तथा कुछ रोग इनके **विधान** से (structural) व्यापार संबंधी रोग तब उत्पन्न होते हैं जब अंग के व्यापार में अव्यवस्था आ जाती है। ऐसे रोगों में अंग के विधान में कोई विशेष विकार नहीं रहता; अंग केवल अव्यवस्थित हो जाता है तथा उसकी क्रिया मंद पड जाती है।

अंग विधान संबंधी तथा अंग व्यापार संबंधी रोगों का सादृश्य।

यह व्यापार संबंधी रोग अंग को व्यवस्थीत करने तथा उसकी क्रिया की गति को उत्तेजित करने मात्र से आराम हो जाता है; तथा वह अंग सुचारु रूप से कार्य करने लगता है। किंतु अंग के विधान संबंधी रोगों में अंग की रचना या उसके विधान में, किसी विकार के बढ जाने से रोग उत्पन्न होता है। ऐसे रोग में अंग का दोष अत्यंत गंभीर प्रकार का होता है। या तो वह बिगड गया रहता है, या तो किसी अन्य दूषित तत्व के उसके भीतर प्रविष्ट हो जाने के कारण, वह अयोग्य या विकृत हो गया रहता है। जब गुर्दा (Kidney) मंद हो जाता है तो यह व्यापार संबंधी रोग है; किंतु जब गुर्दे में पथरी (मूत्रकृच्छता) पड जाती है तो यह रोग विधान संबंधी रोग है। दोनों रोगों की चिकित्सा की जा सकती है; किंतु व्यापार संबंधी रोगों का ठीक करना विधान संबंधी रोगों को ठीक करने की अपेक्षा अधिक आसान होता है।

बुद्धि के उपयोग में किसी अव्यवस्था के कारण जो मिथ्या विश्वास पैदा हो जाते है वे व्यापार संबंधी रोगों के समान है; किंतु बुद्धि के विकृत हो जाने के कारण जो मिथ्या भ्रम पैदा हो जाते है वे विधान संबंधी रोगों के समान है। **जिस प्रकार व्यापार—संबंधी रोग, विधान—संबंधी रोगों की अपेक्षा अधिक आसानी से दूर किये जा सकते हैं, उसी प्रकार, बौद्धिक भूल से उत्पन्न होने वाले मिथ्या भ्रम, बौद्धिक विकार से उत्पन्न होने वाले मिथ्या भ्रमों की अपेक्षा, अधिक आसानी से दूर किये जा सकते हैं।** गुर्दे के व्यापार—संबंधी रोगों को ठीक करने के लिए केवल गुर्दे को अधिक बल और आरोग्य प्रदान करना आवश्यक रहता है; किंतु यदि गुर्दे मे पथरी पड जाने से विधान—संबंधी रोग उत्पन्न हो जाय, तो बहुधा ऑपरेशन (चीर-फाड) करने की आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार, बुद्धि के उपयोग में कोई भूल हो जाने से यदि मिथ्या विश्वास पैदा होते है तो केवल इतना ही आवश्यक होता है कि बुद्धि का उपयोग अधिक सावधानी के साथ किया जाय; किंतु बुद्धि के विकार से यदि मिथ्या विश्वासों का जन्म होता है तो बुद्धि की शुद्धि की आवश्यकता होती है, जिसके लिए **बुद्धि को विकृत करनेवाली इच्छाओं और आसक्तियों को काटने की कष्ट-दायक क्रिया आवश्यक होती है।**

बुद्धि को शुद्ध करने का महत्व।

माया के दुर्ग।

विकृत विचार के मिथ्या भ्रम मूल्य-निरूपण की मौलिक भूलों से उत्पन्न होते है। अंतःकरण की क्रिया कुछ स्वीकृत मूल्यों को प्राप्त करने का जब उद्योग करती है तब ये मिथ्या विश्वास अंतःकरण की इस क्रिया के पार्श्व-परिणाम के रूप में पैदा होते है। ये मिथ्या विश्वास स्वीकृत मूल्यों को विवेक-सिद्ध तथा सही मान लिये जाने के कारण पैदा होते है। वे मनुष्य के मन पर इसलिये अधिकार कर लेते है कि वे स्वीकृत मूल्यों के आधार-स्तंभ के समान जँचते है। यदि वे मानवीय मूल्यों तथा उन की प्राप्ति से कोई संबंध न रखें तो उन का कुछ भी महत्व न रहे तथा मनुष्य के मन पर उन का प्रभुत्व ही न रहे। जब दृढ-मूल इच्छाओं से मिथ्या विश्वास अपना अस्तित्व तथा बल प्राप्त करते है; तो वे मिथ्या खोज के द्वारा पोषित होते है। यदि मिथ्या विश्वासों की भूल पूर्णतः बौद्धिक भूल है, तो उसे सुधारना सरल होता है। किंतु मिथ्या खोज के द्वारा जो मिथ्या विश्वास पोषित होते है, वे मिथ्या विश्वास माया के दुर्ग है। बौद्धिक भूल को दूर करने की अपेक्षा माया के इन दृढ किलों को जीतना अत्यंत कठीन होता है। विरुद्ध बौद्धिक घोषणा से इन मिथ्या विश्वासों का बाल भी बांका नही होता। केवल बौद्धिक विवेचना से माया के इन दुर्गों की जड पर कोई जबरदस्त कुठारा घात नही होता।

विचार को विकृत करने वाली इच्छाओं तथा आसक्तियों को काट फेंकना केवल बौद्धिक सिद्धान्तों के द्वारा संभव नहीं है। उसके लिए शुद्ध प्रयत्न तथा शुद्ध कार्यों की आवश्यकता होती है। आराम-कुर्सी पर बैठे-बैठे बौद्धिक अनुमान के द्वारा आध्यात्मिक सत्यों का ध्यान नहीं किया जा सकता किंतु शुद्ध या उचित कार्यों को करने से ही आध्यात्मिक सत्य प्राप्त किये जा सकते है। मिथ्या विश्वासों के निवारण के लिए रूचा कार्य प्रथम भूमिका है। आध्यात्मिक सत्यों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल कष्टकर तथा उग्र चिंतन आवश्यक नहीं है किंतु शुध्द या स्पष्ट चिंतन आवश्यक है। तथा, **विचार की वास्तविक स्वच्छता शुद्ध चित्त एवं शांत चित्त का फल हुआ करती है।**

अंतःकरण की शुद्धि से विचार की स्वच्छता प्राप्त होती है।

माया-द्वारा उत्पन्न मिथ्या भ्रम का जब तक अंतिम पद-चिन्ह नहीं मिट जाता, तबतक ईश्वर सत्य के रूप में नहीं जाना जा सकता। माया का जब पूर्णतः अतिक्रमण कर लिया जाता है, तभी यह परम ज्ञान प्राप्त होता है कि ईश्वर ही एकमात्र सत्य है। केवल ईश्वर ही सत्य है। वे सब वस्तुएं जो ईश्वर नहीं है; वे समग्र वस्तुएं जो अनित्य तथा आदि-अंत-

मिथ्या भ्रमों का अतिक्रमण करने के पश्चात् ईश्वर सत्य के रूप में ज्ञात होता है।

युक्त हैं; तथा वे समस्त वस्तुएं जो द्वैत के क्षेत्र में विद्यमान सी प्रतीत होती हैं, मिथ्या है। ईश्वर ही एक अनन्त सत्य है। ईश्वर के भीतर जो भाग-विभाग मान लिये गये है वे भ्रम के कारण मान लिये गये हैं। वस्तुतः उनका कोई अस्तित्व नहीं है।

माया के कारण ईश्वर को भाज्य समझ लिया जाता है। नानात्व-युक्त तथा अनेकता मय संसार ईश्वर को भिन्न भिन्न भागों में विभक्त नहीं करता। भिन्न भिन्न अहंकार-चित्त है, भिन्न भिन्न शरीर है, भिन्न भिन्न रूप है, किंतु आत्मा केवल एक है। **जब एक आत्मा विभिन्न अहंकार–चित्तों तथा शरीरों से युक्त मान लिया जाता है, तो विभिन्न जीवात्मा दिखाई देता है;** किंतु इससे स्वयम् आत्मा में कोई अनेकता नहीं उत्पन्न हो जाती। आत्मा अविभाज्य है तथा सदैव अविभाज्य रहेगा। एक अविभाज्य आत्मा उन विभिन्न अहंकार चित्तों का मानो आधार है, जो विभिन्न प्रकार के विचार तथा कार्य करते है, तथा जो द्वन्द्वों का अनुभव करते है; किंतु एक अविभाज्य आत्मा समस्त विचारों और कार्यों तथा समस्त द्वन्द्वों से परे है. तथा सदैव परे रहता है।

ईश्वर अविभाज्य।

भिन्न भिन्न प्रकार के मत या भिन्न भिन्न प्रकार के विचार एक अविभाज्य आत्मा के भीतर विभक्तता या अनेकता उत्पन्न नहीं कर सकती क्योंकि आत्मा के भीतर न कोई मत है और न

किसी प्रकार के विचार है। अपने निष्कर्षों-समेत विचार-विमर्श की सारी क्रिया आदि-अंत-युक्त अहंकार-चित्त के भीतर होती है। **आत्मा नहीं सोचता; आत्मा के आधार से केवल अहंकार-चित्त है।** सोचना चिंतन तथा चिंतन से प्राप्त होने वाला ज्ञान-दोनों, अहंकार-चित्त के अपूर्ण तथा अपर्याप्त ज्ञान के लिए ही संभव है। स्वयं आत्मा के भीतर न तो चिंतन है और न चिंतन से प्राप्त होनेवाला ज्ञान है।

विचारों की विभिन्नताएं आत्माके भीतर भेद उत्पन्न नहीं करतीं

आत्मा स्वयं अनन्त विचार तथा अनन्त ज्ञान है; किंतु इस अनन्त विचार तथा अनन्त ज्ञान में न तो विचारक, विचार, तथा विचार के परिणाम का भेद है, और न कर्ता तथा कर्म विषय का द्वैत है। आत्मा के आधार से केवल अहंकार चित्तही विचारक बन सकता है। आत्मा, जो अनन्त विचार तथा अनन्त ज्ञान है, न तो विचार करता है और न बुद्धि की कोई क्रिया करता है। बुद्धि तथा उसका सीमित चिंतन सीमित अहंकार-चित्त के साथ-साथ अस्तित्व में आता है। **अनन्त ज्ञान, अर्थात् आत्मा, की संपूर्णता में बुद्धि या बुद्धि की क्रियाओं की जरा भी आवश्यकता नहीं रहती।**

आत्मा अनन्त विचार तथा अनन्त ज्ञान है।

माया के द्वारा उत्पन्न मिथ्या भ्रम के अंतिम पद-चिन्ह को मिटाने से आत्मा को केवल यही ज्ञात नहीं होता कि वह स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक शरीर से भिन्न है किंतु यह भी ज्ञात होता है कि वह ईश्वर है जो एक मात्र सत्य है। उसे ज्ञात होता है कि मन, सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर समानतः उसकी स्वयम की कल्पित सृष्टियां है। उसे ज्ञात होता है कि वस्तुतः उन का कभी अस्तित्व ही नहीं था, उसे ज्ञात होता है कि अज्ञान के कारण उसने अपने को मन, या सूक्ष्म शरीर य स्थूल शरीर समझ लिया था तथा उसे यह ज्ञात होता है कि वह मानो स्वयं मन, सूक्ष्म शरीर या स्थूल शरीर बन गया था तथा इन स्व-रचित भ्रमों से अपने आपको उसने स्वयं युक्त कर लिया था।

ईश्वर ही एकमात्र सत्य है।

माया—भाग ४

(ईश्वर और माया)

द्वैत के सिमित करनेवाले द्वन्द्वों से परे होने के कारण ईश्वर अनादि और अनन्त है। वह अच्छे और बुरे, छोटे और बड़े, सही और गलत सद्गुण और दुर्गुण तथा सुख और दुःख की सीमित अवस्थाओं से परे है। अतः वह अनन्त है। यदि ईश्वर बुरा न होकर अच्छा होता या अच्छा न होकर बुरा होता, या यदि वह बड़ा न होकर छोटा होता या छोटा न होकर बड़ा होता, या यदि वह गलत् न होकर सही होता या सही न होकर गलत् होता, या यदि वह दुर्गुणी न होकर सद्गुणी होता या सद्गुणी न होकर दुर्गुणी होता, या यदि वह दुःखी न होकर सुखी होता, या सुखी न होकर दुःखी होता तो वह सादि और सीमित होता, अनादि और मर्यादारहित नहीं होता। **द्वन्द्वातीत होने के ही कारण ईश्वर अनन्त है।**

ईश्वर द्वैत से परे है।

जो अनन्त है उसे द्वैत से परे होना चाहिये। अनन्त द्वैत का एक भाग या अंग नहीं हो सकता अतएव वास्तव में जो अनन्त है उसे सान्त का द्वितीय भाग समझना ठीक नहीं है। **यदि अनन्त का अस्तित्व सान्त के साथ ही साथ**

समझा जायगा या यदि अनन्त को सान्त का सहवर्ती समझा जायगा तो फिर वह अनन्त नहीं रहता।

सान्त अनन्त का द्वितीय भाग नहीं हो सकता।

क्योंकि सान्त का सहवर्ती होने के नाते, अनन्त सान्त का द्वितीय भाग हो जाता है। अनन्त ईश्वर द्वैत की सीमा के भीतर नहीं उतर सकता। अतः द्वैत का दृश्यमान सृष्टि की सत्ता तथा अस्तित्व अनन्त ईश्वर ही है तथा सान्त संसार भ्रामक है। केवल ईश्वर सत्य है। वह अनादि अनन्त है, वह एक अतः अद्वितीय है। सादि और सान्त का अस्तित्व केवल दृश्य है, अर्थात् उस का अस्तित्व सिर्फ दिखाई देता है। वह यथार्थ नहीं है।

सीमित मिथ्या वस्तु जगत् अस्तित्व में कैसे आता है? उस का अस्तित्व क्यों है? उस का अस्तित्व माया अर्थात् अज्ञान के सिद्धान्त के द्वारा उत्पन्न होता है। माया भ्रम नहीं है। वह भ्रम को उत्पन्न करने वाली है। माया मिथ्या नहीं है; माया मिथ्या धारणाओं को उत्पन्न करनेवाली है। **माया असत्य नहीं है। माया वह है जिस के कारण सत्य असत्य दिखाई देता है तथा असत्य सत्य दिखाई देता है।** माया द्वैत नहीं है, माया वह है जो द्वैत को उत्पन्न करती है।

सादि और सान्त संसार माया की सृष्टि है।

बौद्धिक स्पष्टीकरण के लिए माया को अनन्त मानना आवश्यक है। वह सानन्तता का भ्रम उत्पन्न करती है, वह स्वयं सान्त नहीं है। माया के द्वारा उत्पन्न समस्त भ्रम सान्त है तथा समस्त द्वैत जगत् जिस का अस्तित्व माया के कारण दिखाई देता है, भी सान्त है। असंख्य वस्तुएं संसार के अंतर्गत हैं किंतु उस से संसार अनन्त नहीं बन जाता। तारे असंख्य हो, उन की एक बड़ी संख्या है, किंतु तारों का समुदाय भी तो आखिर सान्त है। देश और काल स्वतन्त्र भाव से विच्छेद्य जान पड़ें तो भी देश और काल सान्त है। सीमित और सान्त प्रत्येक वस्तू भ्रम जगत् की वस्तू है। किंतु जो तत्व सान्त दृश्य जगत् का प्रपंच उत्पन्न करता है उसे एक अर्थ में भ्रम नहीं है—यह मानना आवश्यक है।

माया की सृष्टियां आदि अंत युक्त है।

माया सान्त नहीं समझी जा सकती। कोई वस्तु सान्त तब होती है जब वह देश के द्वारा सीमित होती है। माया का अस्तित्व स्थान में नहीं है तथा स्थान के द्वारा वह सीमित नहीं की जा सकती। माया स्थान में सीमित नहीं की जा सकती क्योंकि स्वयं स्थान माया की सृष्टी है। स्थान तथा स्थान से सीमित प्रत्येक वस्तु भ्रम है और वे माया पर आश्रित है। माया किसी भी प्रकार स्थान पर आश्रित नहीं है। अतएव माया स्थान की सीमाओं के भीतर नहीं आती और न वह स्थान से सीमित हो सकती।

माया स्थान से सीमित नही होती।

समय की सीमाएं भी माया को सीमित नहीं कर सकती। सर्वोपरि चेतना की अवस्था में यद्यपि माया का अंत हो जाता है, तथापि इसीलिए उसे सीमित समझना गलत है। **माया का न तो समय में आदि है और न समय में अन्त है क्योंकि स्वयं समय माया की सृष्टी है।** जो लोग यह समझते है कि माया समय में उत्पन्न होती है और किसी समय में समाप्त हो जाती है वे माया को समय के भीतर समझते हैं, समय को माया के भीतर नहीं समझते। समय माया के भीतर है, माया समय के भीतर नहीं है। समय तथा समय के भीतर होने वाली सारी घटनाएं माया की सृष्टियां है, माया के कारण समय अस्तित्व में आता है; तथा माया के साथ वह नष्ट होता है। ईश्वर कालातीत सत्य है तथा ईश्वरानुभूति एवं माया की समाप्ति एक समय रहित घटना है। अतः माया किसी भी प्रकार समय के द्वारा सीमित नहीं है।

माया काल के द्वारा सीमित नहीं है।

यह समझना भी ठीक नहीं कि माया किन्हीं अन्य कारणों से स्वयं सीमित है। क्योंकि यदि वह सान्त है तो फिर वह भ्रम हो जाती है। और स्वयं भ्रम होने के कारण उसमें अन्य भ्रमों को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रह जाती है। **बौद्धिक स्पष्टीकरण की दृष्टि से माया को उसी प्रकार सत्य तथा अनन्त दोनों समझना सर्वोत्तम है जिस प्रकार ईश्वर को प्रायः सत्य तथा अनन्त समझा जाता है।**

माया अनन्त है।

समस्त संभाव्य बौद्धिक स्पष्टीकरणों में यह स्पष्टीकरण कि माया ईश्वर की ही भाँति सत्य और अनन्त दोनों है मनुष्य की बुद्धि को सब से अधिक ग्राह्य मालूम होता है। किंतु माया **अंततोगत्वा** सत्य नहीं हो सकती। **जहाँ द्वैत है, वहाँ सांतता है, एक वस्तु दूसरी वस्तु को सीमित करती है। दो सच्चे अनन्त नहीं हो सकते।** दो विराट वस्तुएं हो सकती हैं। किंतु दो अनन्त सत्ताएं नहीं हो सकती। यदि ईश्वर और माया का द्वैत हो और दोनों सहवर्ती अस्तित्व माने जाएं, तो ईश्वर की अनन्त सत्ता द्वैत का द्वितीय भाग समझी जायगी अतः **माया को सत्य समझने वाला बौद्धिक स्पष्टीकरण कोई यथार्थ अंतिम ज्ञान नहीं है, यद्यपि वह एक ऐसा स्पष्टीकरण अवश्य है जिसमें सबसे अधिक युद्धिग्राह्य है।**

माया अंततोगत्वा यथार्थ नहीं हो सकती।

माया को भ्रम मानने में भी कठिनाइयां हैं। तथा उसे अंतिम सत्य मानने में भी अड़चनें हैं। इस प्रकार **माया को समझने के लिए सीमित बुद्धि के समस्त प्रयत्न असफल हो जाते हैं।** एक ओर तो माया को सत्य मानने पर वह स्वयं भ्रम बन जाती है तथा भ्रामक जगत् प्रपंच की उत्पत्ति को वह समझा नहीं सकती। अतः माया को सत्य तथा अनंत दोनों मानने की आवश्यकता होती है। किंतु दूसरी ओर यदि

माया को समझने में बौद्धिक कठिनाइयां।

माया को अंतिम सत्य मानें तो वह ईश्वर नामक अनन्त सत्य के द्वैत का स्वयं द्वितीय भाग बन जाती है। और इसीलिए इस दृष्टिकोण से माया वस्तुतः सान्त अतः असत्य हो जाती है। **माया अंतिम सत्य नहीं हो सकती। यद्यपि सान्त वस्तुओं के भ्रामक संसार को बुद्धिसे समझने के लिए उसे वैसा मानना पडता है।**

जिस किसी प्रकार से भी सीमित बुद्धि माया को समझने का प्रयत्न करती है वह उसे ठीक से समझने में असमर्थ हो जाती है। सीमित बुद्धि के द्वारा माया को समझना संभव नहीं है। माया उतनी ही अगम्य है जितना ईश्वर। ईश्वर अगम्य है, अज्ञेय है। इसी प्रकार माया भी अगम्य है, अज्ञेय है। इसिलिए लोग कहते है "माया ईश्वर की छाया है।" जहां मनुष्य है वहां उसकी छाया भी है, इसी प्रकार जहां ईश्वर है वहां उसकी यह अगम्य माया भी है।

माया ईश्वर की छाया है।

किंतु यद्यपि द्वैत जगत् के भीतर कार्य करने वाली सीमित बुद्धि के लिए, ईश्वर तथा माया दोनों अतर्क्य हैं, तथापि अनुभूति के अंतिम ज्ञान के द्वारा ये दोनों अपने वास्तविक स्वरूप में जाने जा सकते हैं। **माया के अस्तित्व की प्रहेली तब तक अंतिम रूप स हल नहीं की जा सकती** जब तक अनुभूति नहीं

माया की प्रहेलिका अनुभूति के पश्चात् हल होती है।

हो जाती। ईश्वरानुभूति के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि माया का यथार्थ में अस्तित्व नहीं है।

माया का दो स्थितियों में अस्तित्व नहीं है।

माया का दो स्थितियों में अस्तित्व नहीं है। सत्य की आरंभिक अचेतन अवस्था में माया का कोई अस्तित्व नहीं है तथा आत्म चेतन या ईश्वर की विज्ञान चेतन अवस्था में भी माया का कोई अस्तित्व नहीं है। ईश्वर के दृश्य द्वैत जगत् की चेतना में ही अर्थात् स्थूल जगत् की चेतना, सूक्ष्म जगत् की चेतना तथा मानसिक जगत् की चेतना मे ही माया का अस्तित्व है। **जहाँ आत्म चेतना नहीं है, तथा जहां कल्पित अनात्म की चेतना है और जहां द्वैत के मिथ्या वर्गों के द्वारा शोचनीय ढंग से चेतना आक्रांत हो गई है, वहीं माया का अस्तित्व है।**

माया का अस्तित्व केवल भ्रमों के लिये है।

केवल सान्त के ही दृष्टिकोण से माया का अस्तित्व है। केवल भ्रमों के लिए ही असत्य तथा सान्त वस्तुओं की सत्य तथा अनन्त उत्पादिका के रूप में माया का अस्तित्व है। अंतिम तथा एक मात्र सत्य की अनुभूति के दृष्टिकोण से अनादि और अनन्त ईश्वर के अतिरिक्त और किसी का भी अस्तित्व नहीं है। अनुभूति की अवस्था में सान्त वस्तुओं की ईश्वर से कोई पृथक् सत्ता नहीं रह जाती; उनके सान्त होने का भ्रम लुप्त हो जाता है। और

सान्त वस्तुओं के भ्रम के साथ ही साथ इस भ्रम की उत्पादिक माया भी लुप्त हो जाती है।

अंतर्मुख होने तथा माया का अतिक्रमण करने पर आत्म को आत्मज्ञान होता है। और उस आत्मज्ञान में वह केवल यही नहीं जानता कि विभिन्न अहंकार-चित्तों तथा शरीरों का कभी अस्तित्व था ही नहीं, किंतु यह भी जानता है कि समस्त संस्कार-प्रपंच तथा माया का एक पृथक तत्व के रूप में कोई अस्तित्व नहीं है। माया की पूर्ववर्ती वास्तविकता एक आत्मा की अविभाज्य सत्ता में विलीन हो जाती है। **आत्मानुभूति की अवस्था में आत्मा अपने को वही जानता है जो वह नित्य था अर्थात् ज्ञा , आनन्द, शक्ति तथा सत्ता में अनन्त तथा द्वैत से नित्य परे है। किंतु यह सर्वोपरि आत्म ज्ञान बुद्धि गम्य नहीं है और न लोगों के लिए जिन्हें अंतिम अनुभूति प्राप्त नहीं हो सकी है, यह सर्वोपरि आत्म-ज्ञान अचिंत्य एवं अज्ञेय है।**

अनुभूति जन्य ज्ञान

सुख की शर्तें—भाग १

अनासक्ति के द्वारा दुःख का निवारण

संसार में प्रत्येक प्राणी सुख खोज रहा है, मनुष्य कोई अपवाद नहीं है। यों तो देखने पर मनुष्य का हृदय कई प्रकार की वस्तुओं के लिये लालायित रहता है; किन्तु वह सुख के लिये अनेक वस्तुओं की इच्छा करता है तथा उन्हें प्राप्त करने का उद्योग करता है। यदि वह सत्ता या शक्ति प्राप्त करने के लिय उत्कंठित दिखाई देता है तो इसका कारण यही है कि वह सत्ता के उपयोग से सुख प्राप्त करना चाहता है, यदि वह धनोपार्जन करता है, तो वह चाहता है कि उसे धन के द्वारा सुख के साधन प्राप्त हों, यदि वह ज्ञान, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, विज्ञान, कला या साहित्य की साधना करता है तो इसका कारण यह है कि उसे यह अनुभव होता है कि उसका सुख इन्हीं बातोंपर अवलंबित है, यदि वह संसारीक सफलता तथा यश के लिय संघर्ष करता है तो इसका कारण यह है कि उसे आशा रहती है कि इनकी प्राप्ति से उसे सुख उपलब्ध होगा। अपने समस्त उद्यमों और उद्योगों के द्वारा मनुष्य सुखी होना चाहता है; सुख की आशा ही वह

प्रत्येक मनुष्य सुख की खोज करता है।

अंतिम प्रेरक शक्ति है जिससे वह प्रोत्साहित होकर नाना प्रकार के कार्य करता है।

प्रत्येक व्यक्ति सुखी होना चाहता है, किन्तु अधिकांश व्यक्ति किसी न किसी प्रकार के दुःख से पीडित हैं, और यदि कभी कभी जीवन में उन्हें सुख के स्वल्प अंश प्राप्त होते है तो सुख अंश अमिश्रित भी नही होते और न नित्य ही होते हैं। मनुष्य का जीवन अमिश्रित सुख की श्रेणी का कभी नहीं हो सकता। वह सुख और दुःख के द्वन्द्व के बीच झूलता रहता है। सुख और दुःख एक दूसरे से वैसे ही गुँथे हुए है जैसे श्यामल बादल तथा ज्योतित इन्द्रधनुष। तथा, मनुष्य के जीवन में यथा प्रसंग आने वाले सुख के क्षण उसी प्रकार विलुप्त हो जाते हैं जिस प्रकार इन्द्रधनुष के रंग जो आकाश से विलुप्त होने के लिये ही थोडी देर अपनी आभा लिये चमकते रहते हैं। और, यदि सुख के ये क्षण अपना कोई चिन्ह छोड जाते है, तो वह उनकी स्मृति है जो उन्हें खोने के दुःख की वृद्धि करती है। अनेक सुखों की अवशिष्ट स्मृति अनिवार्य रूप से दुःखद होती है।

सुख और दुःख का मिश्रण।

मनुष्य दुःख नहीं खोजता किंतु वह जिस रीति से सुख खोजता है उस रीति के एक अनिवार्य परिणाम के रूप में उसे दुःख मिलता है। वह अपनी इच्छाओं कि तृप्ति के द्वारा सुख खोजता है किंतु ऐसी तृप्ति कोई निश्चित वस्तु नहीं होती।

अतः इच्छाओं की पूर्ति की खोज के साथ ही साथ मनुष्य अनिवार्य रूप से उन की अतृप्ति के लिए अपने को तैयार करता है। इच्छा-वृक्ष में दो प्रकार के फल लगते हैं। एक प्रकार का मीठा फल है जो सुख है, और दुसरे प्रकार का फल कटु होता है जो दुःख है। यदि झाड बढने दिया जाता है तो यह असम्भव है कि उस में केवल एक ही प्रकार का फल लगे। जो एक प्रकार का फल लेना चाहता है उसे दूसरे प्रकार का फल भी लेने के लिये तैयार होना चाहिये। मनुष्य अधीरतापूर्वक सुख खोजता है और जब वह उसे प्राप्त होता है तो वह **शौक के साथ** उस से **संलग्न** हो जाता है और अनिवार्य आगामी दुःख को टालने का जी जान से प्रयत्न करता है। और, जब वह दुःख आकर ही रहता है तो उस से ग्रस्त होकर वह तीक्ष्ण व्यथा का अनुभव करता है। किन्तु उस की उद्विग्नता तथा उल्लास का कोई विशेष महत्व नहीं रह जाता क्योंकि उसे जो सुख प्राप्त होता है उस का ह्रास अवश्यम्भावी होता है तथा उस का एक दिन लुप्त होना निश्चित रहता है। उस की व्याकुलता-विह्वलता भी कोई काम नहीं आती क्योंकि उस के भाग्य में जो दुःख आता है उस सहन करने के सिवा उस के लिए और कोई चारा नहीं रहता।

इच्छा दो प्रकार के फल भोगती है।

अनेक इच्छाओं से उद्वेलित होकर, मनुष्य संसार के सुखों की खोज करता है। सुख को उस की आशा का अन्त नहीं

रहता। किन्तु सुख सम्बन्धी उस का उत्साह सदैव एक सा नहीं रहता, क्योंकि जब वह सुख से भरे हुए पात्र के लिये हाथ बढाता है उस समय भी उसे दुःख की घूंटें निगलना पडती है। सुखों के साथ साथ निगलने वाले दुःखों के अनुभव से उस का सुखसंबंधी उत्साह फीका पडता है। वह बहुधा आकास्मिक मनस्थितियों तथा प्रवृत्तियों का शिकार होता है। एक समय वह सुखी और गर्वित है, दूसरे समय वह अत्यंत दुःखी तथा अपमानित हो जाता है। इच्छाओं के पूर्ण होने या खंडित होने के अनुसार उस की मनस्थितियां बदलती जाती है। किन्ही किन्ही इच्छाओं की पूर्ति से उसे क्षणिक सुख प्राप्त होता है किन्तु उस सुख के पश्चात ही उदासी की प्रतिक्रिया होती है। उस की मनस्थितियों में चढाव उतार होते रहते हैं तथा उस की मनस्थिति निरंतर विषमता का शिकार होती है।

बदलती हुई मन-स्थितियां।

इच्छाओं की पूर्ति से इच्छाओं का अन्त नहीं होता। इच्छाओं की पूर्ति हो जाने से वे थोडी देर के लिये विलीन हो जाती हैं, अधिक प्रचंडता से प्रगट होने के लिये। मनुष्य को जब भूख लगती है तो वह इच्छा को संतुष्ट करने के लिये खाता है किन्तु थोडी देर बाद ही वह भूखा हो जाता है। यदि वह **जरुरत से अधिक** खा लेता है तो अपनी इच्छा की पूर्ति में भी उसे दुःख और पीडा का अनुभव होता है।

दुखः का कारण इच्छाएं है।

यह बात संसार की सभी इच्छाओं पर लागू होती है । अतः इन इच्छाओं की पूर्ति से प्राप्त होने वाला सुख कम होने लगता है तथा विलुप्त हो जाता है । अतएव सांसारिक इच्छाओं से सुख प्राप्त नहीं हो सकता । इसके विपरीत उनसे अनेक प्रकार के कभी समाप्त न होने वाले दुःखों की प्राप्ति होती है । जब मनुष्य सांसारिक इच्छाओं से ओत-प्रोत है तो दुःख की विशाल राशि अनिवार्यतः उसके लिए सुरक्षित है । इच्छा अनिवार्य रूप से अनेकों दुःखों की जननी है यह नियम है ।

दुःख के दृश्य से इच्छाओं का कम होना ।

इच्छा जन्य दुःख का यदि मनुष्य अनुभव करता है या यदि उसे पहिले से देखता है तो उसकी इच्छा का दमन होता है । कभी कभी तीव्र दुःख उसे संसारिक जीवन से अनासक्त बना देता है । किंतु इच्छाओं की बाढ़ सांसारिक वस्तुओं के प्रति उसकी इस अनासक्ति को बहुधा फिर धो बहाती है । अनेक मनुष्य अस्थायी रूप से सांसारिक वस्तुओं के प्रति अपनी रुचि खो देते है इच्छा-जन्य तीक्ष्ण यंत्रणा भोग ने के कारण । किंतु यदि इच्छाओं से मुक्ति पाने के लिए मार्ग तयार करना हो तो अनासक्ति स्थायी होनी चाहिए ।

किसी असाधारण रूप के तीव्र अनुभव से मनुष्य कभी कभी अत्यंत विचलित हो जाता है जैसे, जब उसे सड़क पर से शव श्मशान लिये जाता हुआ दिखाई देता है ।

अस्थायि अनासक्ति।

ये अनुभव विचारोत्तेजक होते हैं और सांसारिक अस्तित्व के खोखलेपन तथा असारता संबंधी विचारों की लम्बी श्रेणीयां उत्पन्न करते हैं। ऐसे अनुभवों के दबाव के नीचे मनुष्य अनुभव करता है कि एक दिन वह अवश्य मरेगा तथा उन समस्त वस्तुओं से उसे बिदा लेनी होगी जो उसे आज इतनी प्यारी मालूम होती हैं। किंतु यह विचार तथा उनसे उत्पन्न अनासक्ति दोनों अल्प जीवी होते है। वे बहुत शीघ्र विस्मृत हो जाते है। और मनुष्य संसार तथा उसकी आकर्षक वस्तुओं के प्रति अपनी आसक्ति को पुनः आरंभ कर देता है। अनासक्ति की यह अस्थायी तथा क्षणभंगुर मनस्थिती स्मशानवैराग्य के नाम से संबोधित की जाती है, क्योंकि प्रायः स्मशान में ही ऐसे अनासक्ति के अल्प जीवी विचार उत्पन्न होते हैं और ये विचार तभी तक मन में ठहरतें है जब तक मनुष्य शव के नीकट रहता है। अनासक्ति की यह मनस्थिति आकस्मिक और क्षण स्थायी है। जब तक वह विद्यमान रहती है तब तक प्रबल तथा फलोत्पादक मालूम होती है, किंतु वह किसी अनुभव की स्पष्टता के द्वारा पोषित होती है। और जब वह अनुभव लुप्त हो जाता है तो अनासक्ति की मनःस्थिति भी शीघ्र ही लुप्त हो जाती है। यह मनस्थिति जीवन की सामान्य दिशा पर कोई विशेष प्रभाव उत्पन्न नहीं करती।

इस कहानी से मनुष्य की मन की क्षणिक मनस्थिति साफ साफ झलक आयगी। एक मनुष्य ने एक समय गोपीचन्द का नाटक देखा। नाटक आध्यात्मिक था। इससे वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने सब कारबार छोड दिया और कुटुम्बियों को भी त्याग दिया। सब त्याग कर वह गोपीचन्द के मतवाले वैरागियों के दल में मिल गया। अपने जीवन के पहिले के सब ढंग बदल कर वह वैरागी का भेष धारण कर सिर मुंडा कर और दलके अन्य वैरागियों की सलाह के अनुसार एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। प्रथम तो वह गहरे ध्यान में तल्लीन होगया किन्तु सूर्य की किरणें ज्यों ज्यों प्रखर होती गई त्यों त्यों ध्यान संबंधी उसका उत्साह ठंडा पडता गया। ज्यों ज्यों दिन बीतता गया त्यों त्यों उसे भूख प्यास सताने लगी और वह इस प्रकार बहुत दुःखी हुआ। जब उसके परिवार के लोगों को उसकी अनुपस्थिति का ज्ञान हुआ तो वे उसके बारे में चिन्तित हुए और जब कुछ खोज के बाद उन्होंने उसे पालिया तो उन्होंने उसे वृक्ष के नीचे बडी बुरी अवस्था में पाया। वह बहुत ही कुम्हला गया था। वह बहुत ही दुःखी दिखाई देता था। जब उसकी स्त्री ने उसकी ऐसी दुर्दशा देखी तो वह इतनी क्रुद्ध हुई कि वह उस पर टूट पडना ही चाहती थी। किंतु वैराग्य की उसकी मनस्थिति अब खतम हो चुकी थी। वह इस नवीन जीवन

एक दृष्टान्त।

से **काफी** थक चुका था। अपनी स्त्री को अपनी ओर आते देख उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसे स्वर्ग से कोई वरदान मिल गया हो। अपनी स्त्री को चुप करते हुऐ उसने अपनी पगडी तथा साधारण पोशाक पहनी और चुपचाप वह अपनी स्त्री के पीछे घर को चला गया।

तीव्र वैराग्य।

कभी मन की स्थिति अधिक स्थायी होती है और वह न केवल **काफी** समय तक ठहरती है किन्तु जीवन की सामान्य दिशा को भी वह गंभीरता पूर्वक प्रभावित करती है वह तीव्र वैराग्य कहलाती है। अपने प्रिय जनों की मृत्यु या धन नाश, या यश-नाश जैसी बडी विपत्तियों के आ जाने के कारण बहुधा यह तीव्र वैराग्य प्राप्त होता है और अनासक्ति की लहर के प्रभाव में आकर मनुष्य समस्त सांसारिक वस्तुएं त्याग देता है। इस प्रकार के तीव्र वैराग्य का अपना निजी आध्यात्मिक मूल्य है। किन्तु कुछ समय के पश्चात् यह वैराग्य भी विलुप्त हो जाता है या सांसारिक इच्छाओं के पुनः उग्र होने वाली याद के द्वारा यह वैराग्य **लुप्त** हो जाता है। जो आपदा मन पर दृढ प्रभाव उत्पन्न कर देती है उसी के वशीभूत हो कर मनुष्य तीव्र वैराग्य का अनुभव करता है। किन्तु वह स्थायी नहीं रहता क्योंकि वह ज्ञान से उत्पन्न नहीं होता। तीव्र वैराग्य संसारिक जीवन के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है।

दुःख के ज्ञान तथा दुःख के कारणों के ज्ञान से जो वैराग्य प्राप्त होता है या उत्पन्न होता है वही स्थायी वैराग्य होता है। ऐसी अनासक्ति सुरक्षित रीति से इस निश्चल ज्ञान पर आश्रित रहती है कि संसार की सारी वस्तुएँ क्षणिक एवं भंगुर है। तथा उन से किसी भी प्रकार की आसक्ति रखने से अन्त में दुःख भोगना पड़ेगा। मनुष्य सुख देनेवाले संसारिक पदार्थों को चाहता है। किन्तु वह यह नहीं जानता कि सिक्के के एक बाजू को लेने के साथ ही साथ उसे उस के दुसरे बाजू को भी लेना होगा। वह यह नहीं जानता कि एक को स्वीकार करने से वह दुसरे को टाल नहीं सकता है क्योंकि जब तक सुख देने वाले संसारिक पदार्थों से उस की आसक्ति रहेगी तब तक वह निरंतर उन पदार्थों को न प्राप्त करने पर उन्हें खोने का दुःख भोगता ही रहेगा। स्थायी अनासक्ति जिस के परिणाम-स्वरूप समस्त इच्छाओं एवं आसक्तियों से मुक्ति मिलती है, पूर्ण वैराग्य कहलाती है। स्थायी एवं सच्चे सुख की, मौलिक शर्तों में से, पूर्ण वैराग्य, एक है क्योंकि जिस में पूर्ण वैराग्य होता है वह आगे के लिये कभी समाप्त न होने वाली इच्छाओं की श्रृंखलाओं से उत्पन्न होने वाले दुःख, अपने लिए पैदा नहीं करता।

पूर्ण अनासक्ति।

इच्छा-शून्यता मनुष्य को बिलकुल मुक्त कर देती है; वह न तो सुख से चचल होता है और न दुःख से विचलित होता है। जो प्रिय वस्तुओं से प्रभावित होगा उसका अप्रिय

वस्तुओं से प्रभावित होना आवश्यक है। यदि कोई मनुष्य शुभ शकुनों से उत्साहित होता है तो किसी अपशकुन से उसका निरुत्साहित होना संभव है। जब तक वह शुभ शकुन से शक्ति प्राप्त करता रहेगा तब तक वह अपशकुन के निराशा जनक प्रभाव के विरुद्ध अपने आप को सुरक्षित नहीं रख सकता। शकुनों से प्रभावित न होने का एक ही उपाय है शुभ शकुन और अप शकुन दोनों से ही उदासीन हो जाना।

द्वन्द।

निंदा तथा स्तुति के द्वन्द के संबंध में भी यही बात लागू हो सकती है। यदि कोई मनुष्य स्तुति प्राप्त करके सुखी होता है तो निन्दा प्राप्त करने पर उसे दुःखी होना स्वाभाविक है। जबतक स्तुति प्राप्त करने पर भीतर ही भीतर हर्षित होता रहेगा तब तक वह निन्दा की बौछार के नीचे अपने को स्थिर नहीं रख सकता। निंदा से विचलित न होने का एक ही उपाय है स्तुतिसे भी अनासक्त रहना। पूर्ण अनासक्ति के ही द्वारा मनुष्य निंद'-स्तुति के द्वन्द से विचलित रह सकता है फिर वह स्तुति प्राप्त करने मे समता नहीं खोवेगा। द्वन्द्वों से अप्रभावित रहने वाली स्थिरता और समता की प्राप्ति पूर्ण वैराग्य के ही द्वारा समव है। स्थायी तथा सच्चे सुख की मौलिक शर्त पूर्ण अनासक्ति है। जो पूर्ण अनासक्त है वह अनुभव द्वन्दों के मारों से दबा नहीं रहता। सारी इच्छाओं

निन्दा तथा स्तुति।

के बन्धन से मुक्त हो जाने के कारण वह अपने लिये दुःख की सृष्टि नहीं करता।

मनुष्य अनेक दुःखों से ग्रस्त है। कुछ दुःख शारीरिक हैं तथा अन्य दुःख मानसिक हैं। इन दोनों प्रकार के दुःखों में से मानसिक दुःख अधिक तीव्र हैं। जिनकी दृष्टि सीमित होती है वे सोचते हैं कि दुःख केवल शारीरिक होता है। दुःख के संबंध में उनका विचार तो किसी प्रकार की बीमारी या शरीर की अन्य यंत्रणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। किंतु मानसिक दुःख शारीरिक दुःख से अधिक दुःखद होता है और मानसिक दुःख के संबन्ध में शारीरिक दुःख कभी कभी एक वरदान के समान होता है। क्योंकि उसके परिणाम स्वरूप कभी कभी मानसिक दुःख कम हो जाता है। शारीरिक दुःख की ओर मन का ध्यान चला जाने से मानसिक दुःख की तीव्रता कम हो जाती है।

शारीरिक तथा मानसिक दुःख।

केवल शारीरिक दुःख की अतिश्योक्ति करना ठीक नहीं है। शारीरिक दुःख इच्छाशक्ति तथा सहिष्णुता के द्वारा सहा जा सकता है। परंतु असली दुःख तो मानसिक दुःख होता है और बिना किसी प्रकार प्रभावित हुए महान् से महान शारीरिक यंत्रणा को सहने वाले योगी इच्छाओं के खंडित होने के कारण मानसिक दुःख से मुक्त नहीं होते।

इच्छा शून्यता से स्थायी सुख की प्राप्ती।

यदि मनुष्य कुछ भी नहीं चाहता तो वह किसी भी प्रतिकुल परिस्थिति में दुःखी नहीं हो सकता। यहा तक कि शेर के जबडों के भीतर भी नहीं। पूर्ण शून्य ता की अवस्था प्रत्येक व्याक्ति में सुप्त है। और जब मनुष्य पूर्ण शून्यता को प्राप्त करता है तो वह नित्य तथा अमर सुख के उद्गम स्थान को खाद निकालता है। यह नित्य तथा अमर सुख संसार की वस्तुओं पर अवलम्बित नहीं है। यह सुख आत्मज्ञान तथा आत्मानुभूति पर आश्रित है।

सुख की शर्तें (भाग २)

संतोष, प्रेम और ईश्वर अनुभूति

मनुष्य अपने अधिकांश दुःख स्वयं ही के लिए अपनी अदम्य इच्छाओं तथा असंभव मार्गों के द्वारा उत्पन्न कर लेता है। ये इच्छाएं और मांगें अनावश्यक इसलिये होती है कि वे आत्म-तुष्टि के लिये आवश्यक नहीं होती। यदि मनुष्य इच्छा-शून्य तथा संतुष्ट हो जाय तो वह अपने ही द्वारा उत्पन्न कष्ट से मुक्त हो जायगा। उस की कल्पना बहिर्मुखी प्रवृति के द्वारा आक्रांत नहीं रहेगी अर्थात् अनावश्यक वस्तुओं की ओर प्रवृत्त होने के कारण उस की कल्पना पीडित नहीं रहा करेगी और उसे अजेय शांति प्राप्त हो जायगी। और जब मनुष्य संतुष्ट रहता है तो उसे समस्याओं से कोई हल की आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि सांसारिक मनुष्यों के सामने जो समस्याएँ उपस्थित रहती हैं, वे उस के (संतुष्ट पुरुष के) जीवन का पिंड छोड देती है। उस के समक्ष कोई समस्याएँ नहीं रहती अतः उन के हल की उसे कोई चिंता नहीं रहती क्योंकि इच्छाशून्यता की अवस्था में उस का जीवन अत्यन्त संतुष्ट हो जाता है।

संतोष स्वनिर्मित समस्याओं के क्लेश को छिन्न मूल करता है।

जब मनुष्य को यह ज्ञान होता है कि इच्छाएँ आत्मा के केवल बंधन हैं तो वह उन्हें त्यागने का निश्चय करता है।

त्याग का दुःख।

किन्तु इच्छाओं का त्याग स्वेच्छा प्रेरित होने पर भी बहुधा एक कठिन कार्य हो जाता है। आत्मा यद्यपि इच्छाओं को त्याग ने के लिए तैयार हो जाता है, तो भी मन से इच्छाओं को निकालने में दुःख होता है क्योंकि आत्मा का निश्चय अहंकार-चित्त की वृत्ति के विरुद्ध हो जाता है। अहंकार-चित्त इच्छाओं के सहारे जीवित रहने की घोर चेष्टा करता है क्योंकि उस का ऐसा स्वभाव पड चुका रहता है। इच्छाओं का त्याग अहंकार चित्त के जीवन का ही **नाश** है। यही कारण है कि इच्छाओं को त्याग ने की क्रिया अनिवार्यतः एक अत्यंत दुखद क्रिया है। किन्तु यह दुःख आत्मा के लिये हितकर होता है क्योंकि यह दुःख आत्मा को बंधन मुक्त करता है।

सभी दुःख बुरा नहीं होता। जिस दुःख के परिणाम स्वरूप इच्छा शून्यता का नित्य-आनन्द हो वह दुःख एक

सादृश्य।

छद्मवेशी वरदान है। जिस प्रकार किसी शारीरिक व्याधि की निरंतर उग्र पीडा से मुक्त होने के लिये रोगी को, चिकित्सक की चीरफाड से उत्पन्न दुःख स्वीकार तथा सहना भी पडता है उसी प्रकार इच्छाओं से उत्पन्न तथा न समाप्त होने वाली यंत्रणा से मुक्त होने के लिए आत्मा को इच्छा-त्याग-जन्य दुःख का स्वागत करना पडता है।

इच्छाओं को त्यागने में आत्मा को अत्यंत तीव्र दुःख का भले अनुभव करना पड़े किन्तु इच्छाओं के क्रम-क्रम से मन से दूर होने पर उसी क्रम से स्वतंत्रता की जो महान भावना का अनुभव होता है वह इस दुःख को सहन करने में सहायक होता है। जब शरीर के फोड़े को चीरने दिया जाता है और उस का पीप बाहर निकलने दिया जाता है तो उस से बहुत पीड़ा होती है, किन्तु साथ ही साथ उतना ही आराम और सुख भी मिलता है। इसी प्रकार इच्छाओं के त्याग से मिलने वाले दुःख के साथ-साथ क्रम-क्रम से बढ़ने वाले अनन्त जीवन की स्वतंत्रता तथा सुख भी प्राप्त होते जाते हैं।

दुःख के द्वारा संयोग।

सुख और स्वतंत्रता का साफ जीवन प्राप्त करना अत्यंत कठिन है। कृत्रिम तथा कल्पित इच्छाएं बढ़ाकर मनुष्य ने अपना जीवन जटिल बना डाला है, स्वच्छ जीवन व्यतीत करने का अर्थ है इच्छाओं को त्यागना। इच्छाएं मनुष्य की पृथक् सत्ता का अंश बन गई हैं। फलतः वह उन्हें तब तक छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता जब तक तीव्र मानसिक यंत्रणा उसके मनपर बार-बार आघात पहुंचा कर उसे यह पाठ सिखाने में सफल नहीं होती है कि इच्छाएं अज्ञान के कारण उत्पन्न होती हैं। जब अपनी इच्छाओं के कारण मनुष्य तीव्र यंत्रणा से पीड़ित होता है तब वह इच्छाओं के यथार्थ स्वरूप को समझता है। अतः जब ऐसी यंत्रणा आवे तो

उसका स्वागत करना चाहिये। दुःख आगे आने वाले दुःख दूर करने के लिए आसकता है। कांटा, कांटे से निकाला जाता है तथा दुःख दुःख से दूर किया जाता है। मन को इच्छाओं से मुक्त करने के लिए दुःख अवश्य सहन करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में दुःख उतना ही आवश्यक है जितना औषधि रोगी के लिए आवश्यक है।

तथापि नब्बे प्रतिशत मानवीय दुःख अनावश्यक हैं। दुराग्रह तथा अज्ञान के द्वारा मनुष्य अपने आप को तथा अपने साथियों को दुःख पहुचाता है और फिर विचित्रता पूर्वक पूंछता है "हमें दुख क्यों होत' है"। दुःख के सामान्य विचार युद्ध के दृश्यों, भग्नावशेष घरों, टूटे तथा रक्त-रंजित अंगों, मृत्यु तथा उत्पत्ति की यंत्रणाओं के रूप में आकार धारण करते है। किन्तु युद्ध कोई विशेष दुःख का वास्तविक रूप नहीं है। मनुष्य वास्तव में सदैव दुःखी रहते हैं। वे दुःखी इसीलिये रहते है कि वे संतुष्ट नहीं रहते, वे अधिकाधिक चाहते है। युद्ध दुःख का प्रतिनिधि या साकार स्वरूप नहीं है, वह सर्व-लौकिक यंत्रणाओं का परिणाम है। अपने लोभ दंभ तथा निर्दयता के कारण मनुष्य अपने ऊपर तथा औरों पर अर्थहीन दुःख बुला लेता है।

असंतोष मुख्य दुःख हैं।

इच्छाओं के द्वारा मनुष्य अपने अधिकांश दुःख उत्पन्न करता है, और अपने ही लिये दुःख उत्पन्न करके वह संतुष्ट

नहीं रह जाता किंतु अपनी स्वार्थपरता से वशीभूत हो कर वह अपने साथियों के लिये भी दुःख उत्पन्न करने के लिये निर्दयता-पूर्वक उत्साहित होता है। और को दुःख पहुंचा कर भी मनुष्य अपने खुद के सुख की खोज करता है। इस प्रकार निर्दयता तथा युद्ध की उत्पत्ति होती है जिनमें दूसरों के कल्याण की घोर अवहेलना रहती है। किन्तु औरों के सुख की अवहेलना कर के जब तक वह अपने आप के सुख के पीछे दौड़ता है तब तक वह सुख प्राप्त नहीं कर सकता। अपने सुख की खोज करने से मनुष्य अंहकार वृत्ति को प्राप्त होता है और भार का रूप धारण कर लेता है। जब मनुष्य पूर्णतः स्वार्थपरायण हो जाता है तो अपने पृथक सुख की मिथ्या खोज में वह औरों के प्रति अत्यन्त निर्दय तथा क्रूर हो जाता है। किन्तु उसकी क्रूरता और निर्दयता उसी की ओर लौटकर उसी में आघात पहुचाती है क्योंकि निर्दयता तथा क्रूरता से उसके जीवन का झरना ही विषाक्त हो जाता है। प्रेम रहित जीवन बिलकुल ही शुष्क होता है। केवल प्रेम का ही जीवन वास्तविक जीवन है।

अपने स्वतः के सुख के लिये स्वार्थ युक्त खोज मनुष्य को निर्दय (Calous) बनाती है।

यदि मनुष्य इच्छा रहित है, तो वह जो दुसरों कों दुःख पहुचाता है वह अधिकांश में दूर हो जाता है तथा साथ ही

वह अपने लिए जो उल्लेखित दुःख उत्पन्न कर लेता है उनसे भी वह मुक्त हो जाता है। किंतु निरी इच्छाशून्यता से रचनात्मक सुख पैदा नहीं हो जाता, यद्यपि इच्छा–शून्यता स्वनिर्मित दुःख से मनुष्य की रक्षा करती है और सच्चे सुख को संभव करने की दिशा में बहुत कुछ कर देती है। सच्चे सुख का आगमन तब होता है जब मनुष्य अन्य मनुष्यों के प्रति अपने व्यवहार को सुव्यवस्थित करना सीखता है। अतः सीमित अहंकार के जीवन को प्रेम के जीवन में परिवर्तित करने की आध्यात्मिक आवश्यकता उत्पन्न होती है।

आत्म विस्मरणशील प्रेम के ही द्वारा सुख आता है।

पवित्र प्रेम विरल है क्योंकि अधिकांश मनुष्यों का प्रेम स्वार्थपूर्ण हेतुओं से दूषित हो जाता है। संचित बुरे संस्कारों की क्रिया के कारण ये स्वार्थी हेतु छल पूर्वक चेतना में प्रविष्ट हो जाते हैं और उसे कलुषित कर देते है। चेतना के भीतर मूल अज्ञान को, जो "मैं"-भाव के द्वारा अपने आपको व्यक्त करता है, दूर करना अत्यंत कठिन कार्य है। जैसे जब मनुष्य कहता है कि वह अपनी प्रेयसी को चाहता है, तो उसके कहने का बहुधा यह अर्थ होता है कि वह अपनी प्रेयसी को अपने साथ रखना चाहता है। प्रेम की अभिव्यक्ति में 'मैं' और 'मेरी' की भावना मुख्यतः

निःस्वार्थ प्रेम विरल है।

रहती है। यदि मनुष्य अपने खुद के लड़के को मैले फटे कपडे पहिने देखता है, तो वह उसे अच्छे कपडे देने के लिए तथा उसे सुखी देखने के लिए भर सक प्रयत्न करता है; और ऐसी परिस्थितियों में अपने पुत्र के प्रति अपनी आप की भावनाओं को प्रेम की शुद्ध भावनाएं समझता है। किंतु अपने पुत्र के कष्ट को दूर करने की उसकी आतुरता में "मेरी" की भावना का कोई कम हाथ नहीं रहता है। यदि सड़क में वह किसी अपरिचित के पुत्र को मैले फटे कपडे पहिने देखता है तो वह तुरन्त प्रत्युत्तर देने के लिए प्रवृत्त नहीं होता जैसा उसने अपने लड़के के संबंध में किया। इससे यह ज्ञात होता है, यद्यपि वह पूर्णतः इस बात से परिचित नहीं कि उसका अपने लडके के प्रति व्यवहार बहुत कुछ स्वार्थयुक्त था; उसके मन के पृष्ट भाग में "मेरे" की भावना अवश्य छिपी रहती है। यह भावना पूर्ण विश्लेषण के द्वारा ही सतह पर लायी जा सकती है। यदि उसका व्यवहार अपरिचित लड़के के प्रति वैसा ही होता जैसा अपने लड़के के प्रति था तो भी कहा जा सकता था कि उस मनुष्य में शुद्ध प्रेम है।

पवित्र प्रेम किसी के भीतर बलात भरा नहीं जा सकता और न वह दूसरों से बलात छीना जा सकता है। उसको अन्दर से अभिव्यक्त होना पड़ता है। मुक्त सहजता के साथ किन्तु साहस-पूर्ण निर्णय से, वे तत्व दूर किये जा

सकते हैं जो प्रेम की सहज अभिव्यक्ति में बाधक हैं। निःस्वार्थता की प्राप्ति कठिन तथा सहज दोनों कही जा सकती है। वह उन लोगों के लिये कठिन है जितने सीमित अहंकार से बाहर निकलने का निश्चय नहीं किया है। जिन्होंने ऐसा निश्चय कर लिया है उनके लिये वह सरल है। दृढ़ निश्चय के अभाव में सीमित अहंकार से संबद्ध आसक्तियों को छिन्न-मूल करना असंभव है; किन्तु यदि मनुष्य किसी भी मूल्य पर स्वार्थपरता को छिन्नमूल करने का दृढ़ संकल्प कर ले तो पवित्र प्रेम के क्षेत्र में प्रवेश करना उसके लिए अत्यंत सरल हो जाता है।

शुद्ध प्रेम सरल और कठिन दोनों है।

सीमित अहंकार आत्मा के बाह्य आवरण के समान है। मनुष्य अपने संकल्प के द्वारा जैसे कोट उतार सकता है, उसी प्रकार अपने साहस युक्त निश्चय तथा दृढ़ प्रतिज्ञा से वह अपने सीमित अहंकार को सदैव के लिये त्याग सकता है। साहसयुक्त तथा कभी न डिगनेवाले संकल्प के द्वारा कठिन जान पड़नेवाला कार्य सरल हो जाता है। किन्तु ऐसा दृढ़ संकल्प तभी उत्पन्न होता है जब पवित्र प्रेम के लिए मनुष्य में तीव्र लालसा उत्पन्न होती है। जिस प्रकार मूर्ख मनुष्य भोजन के लिये लालायित रहता है उसी प्रकार पवित्र प्रेम का अनुभव करनेवाला साधक पवित्र प्रेम के लिये लालायित रहता है।

साहसपूर्ण निश्चय की आवश्यकता।

जब साधक में पवित्र प्रेम की तीव्र लालसा जाग्रत हो जाती है तो वह गुरू की मध्यस्थता के लिये तैयार हो जाता है। गुरू उसका उचित पथ प्रदर्शन कर के तथा उसे आवश्यक सहायता प्रदान कर के उसे दिव्य प्रेम की अवस्था में प्रविष्ठ करता है। गुरू ही दिव्य प्रेम प्रदान कर के प्रेम जाग्रत कर सकता है। और दूसरा कोई मार्ग नहीं है। जो प्रेम में आद्भुत हो जाना चाहता है उसे प्रेम की अनन्त अग्नि शिखा के पास जाना चाहिये। प्रेम जीवन की सब से श्रेष्ठ वस्तु है। प्रेम के अवतार के संपर्क में आये बिना प्रेम जाग्रत नहीं किया जा सकता। प्रेम पर केवल बौद्धिक चिंतन करने से प्रम संबंधी सिद्धान्त का जाल बुना जा सकता है, किंतु हृदय पहिले ही जैसा शुष्क तथा रिक्त ही बना रहेगा। "प्रेम-प्रेम उत्पन्न करता है।" किसी अन्य यंत्रतुल्य साधन से प्रेम उत्पन्न नहीं किया जा सकता।

सच्चा प्रेम केवल गुरू के द्वारा जाग्रत किया जा सकता है।

जब मनुष्य में सच्चा प्रेम जाग्रत किया जाता है, तो उस प्रेम के द्वारा ईश्वर अनुभूति की प्राप्ति होने पर उसे असीम अक्षर तथा अक्षय सुख का अनुभव होता है। ईश्वर अनुभूति-जन्य सुख ही सृष्टि का लक्ष्य है; और यथार्थ में ऐश्वर्य का अनुभव प्राप्त किये बिना उस अनिर्वचनीय सुख का लेश मात्र भी विचार कर सकना मनुष्य के लिये संभव नहीं है। दुःख और सुख के संबन्ध में मनुष्य क

प्रेम के द्वारा ईश्वरानुभूति की प्राप्ति होती है।

जो ज्ञान है वह अत्यंत सीमित है। सब प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक दुःखों को झेल कर भी यदि ईश्वर अनुभूति का सुख प्राप्त हो तो वह प्राप्तव्य है। ईश्वर अनुभूति हो जाने पर ज्ञात होता है कि दुःख कभी था ही नहीं।

ईश्वरानुभूति का सुख नित्य एंव अनन्त है।

ईश्वर का ज्ञान जिन्हें प्राप्त नहीं हुआ है वे भी योग के बल से अपने मनपर इतना अधिकार कर लेते हैं कि उन्हें किसी भी प्रकार के सुख या दुख का अनुभव नहीं होता। जीते जी गड़ा दिये जाने पर भी या खौलते हुये तैल में डाल दिये जाने पर भी वे दुख से बिलकुल अविचलित रह सकते हैं। किन्तु उन्नत योगी साहसपूर्वक दुख को सहन कर सकते हैं और बहुत कुछ उसका लोप कर सकते है तथापि उन्हें ईश्वर अनुभूति के सुख का अनुभव प्राप्त नहीं होता। जब व्यक्ति ईश्वर हो जाता है तो उसके लिए अन्य समस्त वस्तुशून्य हो जाती है। अतएव ईश्वर अनुभूति के सुख का किसी भी प्रकार ह्रास नहीं होता। ईश्वर अनुभूति का सुख आत्मावलंबित रहता है। वह नित्य नवीन तथा अमर रहता है। वह असीम तथा अवर्णनीय रहता है। और, इस सुख की प्राप्ति के लिये संसार अस्तित्व में आया है।

———

ईश्वर अनन्त प्रेम के रूप में

जो ईश्वर को सिर्फ बुद्धि के द्वारा समझने का प्रयत्न करते है वे किसी शुष्क तथा निर्जीव बौद्धिक सिद्धान्त तक ही पहुँच पाते है। यह सिध्दान्त ईश्वर के वास्तविक रूप के असली सार का रसास्वादन नहीं कर सकता। यह सच है कि *ईश्वर अनन्त अस्तित्व, अनन्त शक्ति तथा अनन्त* आनन्द है। किंतु यदि ईश्वर को अनन्त प्रेम के रूप में नहीं समझा गया। अपनी अतीत अवस्था में, जहां से समस्त सृष्टि का उद्‌गम होता है तथा जहां अन्त में वह विलीन हो जाती है, ईश्वर नित्यशः अनन्त प्रेम है। रूपों के सीमित क्षेत्र में ही (जो द्वैत जगत् प्रपंच के मध्यवर्ती अभ्युदय काल में प्रातिर्भूत होता है) प्रेम की अनन्तता विकाश-पूर्ण दिखाई देती है।

प्रेम ईश्वर का सार है।

जब ईश्वर का प्रेम संसार के अभिव्यक्त रूपों में तथा इन रूपों के द्वारा अपने आपको अनुभूति करने के लिए आता है, तो वह इन निम्न-लिखित अवस्थाओं को पार करता है :—

अभिव्यक्त प्रेम का विकासक्रम।

(१) वह अपने को अत्यन्त सीमित अनुभव करता है।

(२) वह अपने को उत्तरोत्तर कम सीमित अनुभव करता है तथा अधिकाधिक अनन्त अनुभव करता है तथा—

(३) वह अपने को ही अनुभव करता है जो वास्तव में वह है, अर्थात् अस्तित्व और सार में अनन्त। प्रेम को जो ससीमता का अनुभव होता है वह संस्कार (जो चेतना के विकाश के पश्चात् का परिणाम है)—जन्य अज्ञान के कारण है; और प्रेम के अनन्त होने का क्रम इन सीमाकारी संस्कारों को हटाने का क्रम है।

प्रेम की कामवासना के रूप में अभिव्यक्ति।

धातु-जगत् की प्रायः अचेतन अवस्था को पार करने के पश्चात् प्रेम पशुओं में वासना के रूप में चेतना का अनुभव करता है; और वह वासना के ही रूप में मनुष्य में भी सर्व प्रथम प्रगट होता है। **मानवीय चेतना में कामवासना प्रेम का अत्यन्त सीमित रूप है। कामवासना का यद्यपि दूसरे मनुष्यों से स्पष्ट संबंध रहता है, तो भी वह पूर्ण स्वार्थपरता से भिन्न नहीं होती, क्योंकि वासना जिन समस्त पदार्थों से आसक्त होती है, वे सीमित तथा पृथक अहंकार के लिए तथा उसके दृष्टिकोण से ही अभीष्ट होते हैं।** किंतु साथ ही साथ वह एक प्रकार का प्रेम भी है क्योंकि उसमें औरों के प्रति गुण-ग्रहण शीलता का कोई न कोई रूप अवश्य रहता है। यद्यपि यह पर-गुण ग्रहण शीलता आत्मा के बारे में घनीभूत अज्ञान से पूर्णतः विकृत हो गई रहती है।

अस्तित्व के स्थूल क्षेत्र के द्वैत में जब मानवीय चेतना पूर्णतः बंध जाती है तो प्रेम किसी न किसी प्रकार की विषय-वासना के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में अपने को व्यक्त नहीं कर सकता। मनुष्य कढ़ी पसन्द करता है और वह केवल इसलिये उस का आनन्द प्राप्त करता है, कि वह उस की जीभ को गुद गुदासी है। कढ़ी के स्वाद में और कोई उच्चतर विचार कार्य नहीं करता, अतः वह एक प्रकार की वासना है। वह स्वाद के संवेदनों के लिये केवल एक तृष्णा है। इसी प्रकार देखने, सुनने, सूंघने तथा छूने के शारीरिक संवेदनों के लिये मन की तृष्णा रहती है। और इन संवेदनों से जो उत्तेजना प्राप्त होती है, उसी के द्वारा मन अपने आप के असहकारिक जीव का पालन पोषण करता है। **विषय–वासना, अपने समस्त रूपों में आत्मा से पृथक् रहती है, तथा वह स्वतन्त्र रूप से, स्थूल रूपों में आसक्ति है। विषय-वासना इन्द्रिय के विषयों में निरी आसक्ति की अभिव्यक्ति है; और उस के सभी रूपों में हृदय भूखा तथा अनभिक्त व्यक्त ही रहता है। अतएव वह एक स्थायी रिक्त बन जाता है, तथा असीम दुःख तथा अतृप्ति की अवस्था में रहता है।**

स्थूल क्षेत्र का प्रेमी।

अमिश्रित या शत-प्रतिशत वासना काम के रूप में जो प्रेम अभिव्यक्त होता है, वह पूर्ण परिसीमित के रूप में रहता

है क्योंकि वह अविश्रांत तृष्णा के जाल में असहायसा फँस जाता है। **जब हृदय विषय–वासना से जकड़ लिया जाता है तो आत्मा मानों विभ्रम या अप्राकृतिक नींद की अवस्था में रहता है। हृदय की क्रिया अत्यंत संकीर्ण तथा विकृत हो जाती है क्योंकि वह सीमाजनक अज्ञान से अधिकृत हो गयी रहती है। उसकी उच्चतर योग्यताओं की अभिव्यक्ति तथा पूर्णता रूक जाती है। आत्मा के जीवन का यह अवरोध तथा दमन घोर बद्धता की अवस्था उत्पन्न करता है।**

अमिश्रित विषयवासना अत्यन्त ससीमता की अवस्था है।

जो प्रेम अज्ञान के दासत्व के कार्य करता है, विषय–वासना उस प्रेम का एक अत्यंत सीमित रूप है। किंतु वासना जो **अपर्याप्तता** की स्पष्ट छाया अपने उपर अनिवार्यतः धारण किये रहती है कि वह इस बात का चिन्ह है, कि वह किसी ऐसी गंभीरतर वस्तु की अपूर्ण तथा अपर्याप्त अभिव्याक्ति है, जो विशाल तथा अनन्त है। **अमिश्रित विषय–वासना के परिणाम स्वरूप जो अनेक एवं असीम दुखों की उत्पत्ति होती है, तथा वासना के बार बार खंडित होने से जो क्लेश अनुभूत होते है, इन दुःखों और क्लेशों के द्वार**

विषय वासना में अनन्तता का आत्म-प्रतिष्ठापन अप्रत्यक्ष रहता है।

अमिश्रित वासना के जीवन की नितान्त निरर्थकता तथा व्यर्थता के विरुद्ध अपना घोर प्रतिवाद पेश किया करता है। अनेक तथा नाना दुखों और वेदनाओं की अक्षय ध्वनियों के द्वारा ईश्वर के प्रेम की अनन्तता अप्रत्यक्ष रूप से अपने अनाभिव्यक्त तथा निर्बल अस्तित्व के आदेशपूर्ण दावों की घोषणा करती है।

स्थूल क्षेत्र के निम्नतर वासनापूर्ण जीवन में भी ईश्वर अपने आप को प्रेमी के रूप में अनुभव करता है; किन्तु वह एक ऐसे प्रेमी की अवस्था है जिसे अपने तथा अपने प्रियतम की वास्तविक अवस्था का पूर्ण अज्ञान है, तथा वह एक ऐसे प्रेमी की अवस्था है जो अज्ञात द्वैत के तमसाच्छन्न आवरण के द्वारा अनिवार्यतः पृथक् कर दिया गया है। **तो भी यह अवस्था एक ऐसे लम्बे विकास-क्रम का आरम्भ है, जिसकी सहायता से प्रेमी, अज्ञान के घोर आवरण को दूर कर के अपने सत्य रूप को प्राप्त होता है, जो असीम तथा अनिरुद्ध प्रेम होता है।** किन्तु अनन्त प्रेम में प्रविष्ट होने के लिये, प्रेमी को दो अन्य स्थितियों में से गुजरना पड़ता है। वे हैं सूक्ष्म क्षेत्र की स्थिति तथा मानसिक क्षेत्र की स्थिति।

प्रेमी की तीन स्थितियां।

सूक्ष्म क्षेत्र का प्रेमी, वासना से मुक्त नहीं रहता, किंतु वह जिस वासना का अनुभव करता है वह अमिश्रित नहीं

होती जैसे स्थूल क्षेत्र की रहा करती है। सूक्ष्म क्षेत्र की वासना की तीव्रता स्थूल क्षेत्र की वासना की तीव्रता की आधी होती है। इस के सिवा सूक्ष्म क्षेत्र के प्रेमी के जीवन में वासना की वैसी स्थूल अभिव्यक्ति नहीं होती जैसी स्थूल क्षेत्र के प्रेमी के जीवन में होती है। स्थूल क्षेत्र का प्रेमी स्थूल पदार्थों से बिलकुल बंध जात है, अतः इसकी वासना स्थूल अभिव्यक्ति प्राप्त करती है। किन्तु सूक्ष्म क्षेत्र के प्रेमी की स्थूल पदार्थों में आसक्ति बहुत शिथिल हो गयी रहती है; अतः स्थूल रूप में उस की वासना अनाभिव्यक्त रहती है। उसकी वासना की अन्य सूक्ष्म अभिव्यक्तियां है, किन्तु उसकी स्थूल अभिव्यक्ति नहीं होती। इस के सिवा स्थूल क्षेत्र की आरम्भिक वासना का अर्धांश सूक्ष्म क्षेत्र में परिवर्तित तथा शुद्ध हो जाता है, अतः सूक्ष्म क्षेत्र का प्रेमी प्रेम को अमिश्रित वासना के रूप में अनुभव नहीं करता किन्तु एक उच्चतर रूप में, अर्थात् **प्रियतम से युक्त होने की लालसा के रूप में** अनुभव करता है।

सूक्ष्म क्षेत्र का प्रेमी।

इस प्रकार स्थूल क्षेत्र में प्रेम अपने को वासना के रूप में व्यक्त करता है, तथा सूक्ष्म क्षेत्र में अपने को लालसा के रूप में व्यक्त करता है। विषय वासना इन्द्रिय संवेदनाओं और उत्तेजनाओं के लिए तृष्णा है, अतः उसका हेतु पूर्णतः स्वार्थ-युक्त होता है। वह प्रियतम के कल्याण के प्रति पूर्णतः

लालसा के रूप में प्रेम।

उपेक्षाशील होता है। किंतु लालसा में स्वार्थ कम होता है, और यद्यपि वह एक प्रकार से प्रधान ही रहती है, तो भी वह प्रियतम के मूल्य और महत्व को आत्मा से पृथक् तथा स्वीकार करती है। लालसा प्रेम का, वासना की अपेक्षा कम सीमित, रूप है। लालसा में द्वैत का आवरण अधिक पारदर्शी तथा कम बाधक हो जाता है, क्योंकि प्रेमी और प्रियतम के द्वैत पर विजय प्राप्त करने का, ज्ञान-पूर्वक प्रियतम की उपस्थिति या सन्निकटता प्राप्त करने के रूप में, प्रयत्न किया जाता है। **विषय-वासना में एक मात्र सीमित अहंकार पर जोर दिया जाता है, और प्रियतम पूर्णतः अहंकार की स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र होता है। किंतु लालसा में जोर अहंकार तथा प्रियतम के बीच सामान्यतः विभाजित रहता है, और प्रेमी यह अनुभव करता है, कि वह प्रियतम के लिये उसी प्रकार जीवित है, जिस प्रकार प्रियतम प्रेमी के लिए जीवित है।**

मानसिक क्षेत्र के प्रेमी के प्रेम की अभिव्यक्ति इससे भी उच्चतर तथा स्वतंत्रतर होती है। मानसिक क्षेत्र के प्रेमी के प्रेम में भी यद्यपि वासना का पूर्ण लोप नहीं हुआ रहता, तो भी वह अधिकांशतः शुद्ध और परिवर्तित हो गयी रहती है। स्थूल क्षेत्र की आरंभिक वासना का लगभग एक चतुर्थ भाग ही केवल बचा रहता है। किन्तु यह वासना बिना किसी

मानसिक क्षेत्र का प्रेमी

अभिव्यक्ति के, सुप्त रूप में रहती है। **मानसिक क्षेत्र में वासना की सूक्ष्म अभिव्यक्ति भी नहीं होती।** मानसिक क्षेत्र का प्रेमी सूक्ष्म पदार्थों से अनासक्त रहता है और वह प्रियतम के लिए अधिकार वृत्ति प्रधान लालसा से भी मुक्त रहता है, जो सूक्ष्म क्षेत्र के प्रेमी का लक्षण है।

मानसिक क्षेत्र में, प्रियतम की इच्छा के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण के रूप में, प्रेम अपने आप को व्यक्त करता है।

प्रेम की शरणागति के रूप में आत्माभिव्यक्ति

समस्त स्वार्थी इच्छाएं तथा लालसा भी प्रियतम की सान्निकटता के लिये लुप्त हो जाती हैं। अब पूरा जोर प्रियतम की महत्ता तथा इच्छा पर केन्द्रित हो जाता है। स्वार्थ-परता पूर्णतः प्रक्षालित होती है, और प्रेम अपने शुद्ध रूप में यथेष्ठ माया में प्रवाहित होता है। तथापि मानसिक क्षेत्र में भी प्रेम अनन्त नहीं हो जाता क्योंकि अभी भी प्रेमी और प्रियतम को पृथक करनेवाला द्वैत का एक पतला आवरण उपस्थित रहता है। यद्यपि अब प्रेम स्वार्थपरता के पाश से मुक्त हो जाता है, तो भी वह अनन्त प्रेम से कम ही रहता है, क्योंकि **प्रेम सीमित मन के माध्यम के द्वारा अनुभव किया जाता** है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार निम्नतर क्षेत्रों में निम्नतर शरीर के माध्यम से प्रेम अनुभव किया जाता है।

प्रेम ज्ञानपूर्वक अपनी सत्ता तथा अपनी अभिव्यक्ति में अनन्त तब होता है जब वैयक्तिक मन का अतिक्रमण हो

जाता है। ऐसा प्रेम यथार्थ ही दिव्य प्रेम कहा जाता है, क्योंकि वह ईश्वर अवस्था के लक्षण से अलंकृत रहता है जिस ईश्वर अवस्था में द्वैत का अंतिम रूप से अतिक्रमण कर लिया जाता है। दिव्य प्रेम में विषय-वासना का पूर्णतः लोप हो जाता है। वह सुप्त रूप में भी नहीं रहती। **ईश्वरीय प्रेम वस्तुतः तत्व तथा अभिव्यक्ति में अनन्त होता है, क्योंकि वह आत्मा से आत्मा के ही द्वारा अनुभूत होता है।** स्थूल, सूक्ष्म तथा मानसिक क्षेत्रों में प्रेमी को प्रेमी से पृथक होने का ज्ञान रहता है, किन्तु जब ये सब क्षेत्र पार कर लिये जाते हैं, तब प्रेमी को प्रियतम से अपनी एकता का ज्ञान हो जाता है। प्रेमी अपने को प्रियतम की सत्ता में विलीन कर देता है और यह जानता है कि वह प्रियतम से एक है। दिव्य प्रेम इच्छाओं या सीमित अहंकार के बंधनों से बिलकुल मुक्त रहता है, और **अनन्त प्रेम की इस अवस्था में प्रेमी की अपने प्रियतम से पृथक कोई नहीं रहती। वह स्वयं प्रियतम हो जाता है।**

ईश्वरीय प्रेम अनन्त होता है।

इस प्रकार ईश्वर अनन्त प्रेम के रूप में पहिले सृष्टि के रूपों से अपने आपको सीमित कर लेता है, और सृष्टि की विभिन्न अवस्थाओं में अपनी अनन्तता को पुनः प्राप्त करता है। ईश्वर के सीमित प्रेमी होने के अनुभव की समस्त स्थितियों की अंतिम पराकाष्ठा में ईश्वर अपने को एकमात्र प्रियतम के रूप में

दिव्य प्रेम लीला।

अनुभव करता है ! आत्मा का प्रवास एक अद्भुत दिव्य-लीला है। इस लीला की आरंभिक अवस्था में प्रेमी को रिक्तता, असफलता, व्यर्थता तथा बंधन की क्रूर शृंखलाओं का अनुभव होता है। क्रम-क्रम से उसके प्रेम की अभिव्यक्ति अधिकाधिक पूर्ण तथा स्वतंत्र होती जाती है, और अन्त में प्रेमी दिव्य प्रियतम (Divine Beloved) में अंतर्हित और मग्न हो जाता है। और उसे परम तथा नित्य सत्य ईश्वर के अनन्त प्रेम में, प्रेमी प्रियतम की एकता का आत्मप्रत्यय प्राप्त होता है।

पुनर्जन्म तथा कर्म

(भाग १)

मृत्यु का महत्व

संसारी मनुष्य स्थूल शरीर की क्रियाओं से ही जीवन का पूर्ण तादात्म्य अनुभव करता है; अतः शरीर के आदि और अन्त को वह जीवात्मा का आदि और अन्त समझता है। अपने तमाम अनुभवों से उसे विदीत होता है, कि भौतिक शरीर नश्वर है। वह बहुधा जीवित शरीरों को नष्ट होते हुए भी देखता है। अतः स्वाभाविकतः यह विश्वास करता है, कि शरीर के अवसान के साथ ही साथ जीवन का भी अवसान हो जाता है।

जीवात्मा का अपने को शरीर समझना।

संसारी मनुष्य मृत्यु को ही जीवन की समाप्ति मानता है; और अपने सामान्य दृष्टिकोण में वह मृत्यु को बड़ा भारी महत्व देता है। ऐसे मनुष्य बहुत थोड़े होते हैं, जो मृत्यु पर बहुत अधिक समय तक विचार करते हों; किंतु सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति में पूर्णतः मग्न रहने पर भी, मृत्यु की घटना को अनेक प्रसंगों पर अपनी आंखों के सामने देखकर, अधिकांश

मृत्यु जीवन की पृष्ठ भूमि।

मनुष्य उससे अनेक प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। मृत्यु एक ऐसी अनिवार्य घटना है, जिसपर किसी का वश नहीं चलता। वह अदृश्य रुप से, जीवन में प्रवेश करती है, तथा मनुष्यों की महान् विजयों एवं उपलब्धिओं तथा तीव्र आन्दोल्लास तथा आमोद-प्रमोद की इति कर देती है। अतः उनका मनुष्यों के लिये मृत्यु की घटना जीवन के पार्थिव दृश्य की पार्श्वभूमि हुआ करती है।

मृत्यु का महत्व

मृत्यु को सामान्यतः जीवन की पृष्ठ भूमि समझने के अतिरिक्त, उसे जीवन के अनेक कार्यों में अत्यधिक महत्व भी दिया जाता है। अत्यंत शोकजनक तथा भयानक घटनाओं में से एक घटना मृत्यु भी मानी जाती है। जब मनुष्य घृणा तथा क्रोध के वश में आकर किसी से बदला लेना चाहता है, तो वह मृत्यु को ही अंतिम दंड तथा सर्व श्रेष्ठ प्रतिशोध समझ कर अपने शत्रु का वध करता है। लोग समझते हैं, कि शत्रु के आक्रमण तथा अनिष्ट से बचने का सर्वोत्तम उपाय है, उसे मार डालना। सर्वोत्कृष्ट आत्म-बलीदान के चिन्ह के रुप में भी मनुष्य मृत्यु को ही निमंत्रित करते है। जब मनुष्य अपनी सांसारिक चिंताओं का सामना नहीं कर सकता है, तथा अपनी सांसारिक समस्याओं को सुलझाने में अपने आपको असमर्थ पाता है, तब उनका अंत करने की मिथ्या आशा से वह मृत्यु का ही आश्रय लेता है, अर्थात् आत्म-हत्या कर लेता है। इन सब बातों से विदीत होता है, की **अनेक मनुष्यों के विचारों में मृत्यु अत्यंत अधिक महत्व धारण कर लेती है।**

विशिष्ट रूपों पर मनुष्य आसक्त हो जाता हैं, यही कारण है कि वह मृत्यु को आवश्यकता से अधिक महत्व देता है। यदि संसारी मनुष्य जीवन-क्रम तथा जीवन प्रवाह को विस्तृत दृष्टि से देखे, तो उसे मालूम होगा, कि मृत्यु न तो उतनी महत्व-पूर्ण है और न उतनी शोकजनक, जितनी कि वह उसे समझता है। **यह सच है, कि रूप नश्वर हैं। किंतु रूपों कि नश्वरता से, जीवन की अविश्रांत निरंतरता में, कोई नहीं पड़ती। पुराने रूपों को त्याग कर, जीवन अपने निवास तथा अभिव्यक्ति के लिए, नये रूपों की रचना करता है।** अतः रूपों के नाश के **बावजूद** भी, रूपों के भीतर तथा रूपों के द्वारा जीवन अनवरत गति से प्रवाहित होता रहता है। यद्यपि मौत का कार्य कभी बंद नहीं होता, तथापि जीवनधारा निरंतर बहती ही रहती है। एक ओर क्रम-क्रम से मृत्यु होती जाती है, तो दूसरी ओर क्रम-क्रम से जन्म भी होता जाता है। **बारी-बारी से लोग मरते जाते हैं, तो बारी-बारी से मनुष्यों का जन्म भी होता रहता है।** जितने लोग मरते हैं उतने लोग जन्म भी लेते हैं। अतः मृत्यु से जो स्थान रिक्त होता है, जन्म से उसकी पूर्ति हो जाती है। प्राचीन मानव-कुल के स्थान में, नवीन मानव-कुल आ जाता है। नये-नये रूपों में पुनः पुनः जन्म लेकर, जीवन सदैव अपने आपको नूतन तथा नवीन करता जाता है। जीवन के स्रोत अपने आदि-उद्गम-स्थान से, सदैव निःसृत होकर रूपों के द्वारा सतत प्रवाहित होते रहते हैं। समुद्र की तरंगों की भाँति ये रूप उठते और

सामान्य जीवन की निरंतरता।

विलीन होते रहते हैं।

अतएव यदि संसारी मनुष्य अपने सीमित अनुभव से भी शिक्षा ग्रहण कर सकता है, तथा इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता है, कि मृत्यु सर्वथा कोई ऐसी हानि नहीं है, जिसकी पूर्ति नहीं। इस प्रकार, वह मृत्यु से उत्पन्न होनेवाले अपने दारुण शोक को बहुत कुछ कम कर सकता हैं। **किन्हीं खास रुपों पर बिना आसक्त हुए, पक्षपातशून्य तथा तटस्थ दृष्टिकोण से जीवन पर विचार करने से ही, मृत्यु के प्रति विवेकपूर्ण दृष्टिकोण धारण करना संभव है।** किंतु, विशिष्ट रुपों पर आसक्त होने के कारण, मनुष्य के लिये, जीवन पर तटस्थ विचार करना ही अत्यंत कठिण होता है। उसके लिये सारे रुप समान नहीं होते। उसके लिये, एक रुप उतना ही अच्छा नहीं होता, जितना कि दूसरा रुप। जिस रुप को वह अपना समझता है, या जिस रुप से तादात्म्य अनुभव करता है, वह रुप उसे सर्व श्रेष्ठ मालूम होता है। जीवन प्रवाह की सामान्य सुरक्षा तथा वृद्धि का उसके लिये कोई महत्त्व नहीं रहता। **संसारी मनुष्य यह इच्छा करता है, कि उसका रुप बना रहे, तथा वे विशिष्ट रुप बने रहें, जिन पर वह आसक्त है।** उसका हृदय उसकी बुद्धि को साथ नहीं देता। ज्योंही उसको प्रिय लगनेवाले रुप उसकी आँखों से ओझल होते हैं, त्योंही उसक शोक का कोई ठिकाना नहीं रहता, यद्यपि उन रुपों के नाश से जीवन-समष्टि की होनेवाली क्षति की पूर्ति, अन्यत्र अन्य रुपों में व्यक्त होनेवाले जीवन के द्वारा हो जाती है।

विशिष्ट रूपों पर आसक्ति होने के कारण मृत्यु का दुख होता है

सूक्ष्म विश्लेषण करने पर मालूम होगा, कि मृत्यु का शोक स्वार्थ-परता से उत्पन्न होता है। वह मनुष्य, जिसके प्रियतम संबंधी की मृत्यु हो जाती है, मन ही मन समझता है, कि जीवन-समष्टि की क्षति की कहीं अन्यत्र पूर्ति हो गयी है; किंतु वह यही अनुभव करता है, '**उससे मेरा** कौनसा मतलब पूरा हुआ?' जब मनुष्य मृत्यु को अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से देखता है, तभी वह अपार शोक उत्पन्न करती है। सामान्य-जीवन-समष्टि के दृष्टिकोण से, मृत्यु एक बहुत कम महत्व रखनेवाली घटना है।

मृत्यु का शोक एक प्रकार की स्वार्थ-परता है

मृत्यु पर तटस्थ बुद्धि से विचार करने पर, तज्जन्य व्यक्ति-गत शोक से मन काफी सुरक्षित हो जाता है। किंतु, तब भी तटस्थ बुद्धि की मृत्यु विषयक गंभीर समस्याएं हल नहीं हो जातीं। मृत्यु का यथार्थ अर्थ समझने में, तटस्थ बुद्धि के समक्ष भी, अनेक उलझनें पैदा हो जाती हैं। यदि मृत्यु को वैयक्तिक अस्तित्व की अंतिम परिसमाप्ति माना जाता है, तो उससे संसार की ऐसी हानि होती है, जिसकी पूर्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के द्वारा, संसार को जो वस्तु प्रदान करता है, वह इतनी अद्वितीय होती है, कि वही वस्तु कोई दूसरा व्यक्ति प्रदान नहीं कर सकता। इसके शिवाय, **व्यक्तिपूर्णता की प्राप्ति करने के बहुत पहिले ही मर जाता है।** अपने आदर्श के लिए किये जानेवाले उसके संघर्ष, सत्य, शिव तथा सुन्दर को प्राप्त करने

तटस्थ बुद्धि की समस्याएं

के लिए उसके प्रयत्न, और उत्साह, तथा दिव्य और अनन्त वस्तुओं के प्रति उसकी आकांक्षायें—सभी मृत्यु से उत्पन्न विशाल शून्यता में विलीन सी हो जाती हैं।

मृत्यु को वैयक्तिक अस्तित्व की परिसमाप्ति समझना विवेकसम्मत अंतःप्रज्ञा (Rationalised intuition) की अवारणीय अपेक्षाओं के विपरीत होता है। अशुद्ध बुद्धि यह अनुमान करती है, कि मृत्यु वैयक्तिक अस्तित्व का अंत है, तथा अंतःप्रज्ञा से प्रेरणा होती है, कि मृत्यु वैयक्तिक जीवन की समाप्ति कदापि नहीं हो सकती। **इस प्रकार, अशुद्ध बुद्धि की धारणा तथा विवेकसम्मत अंतःप्रज्ञा की प्रेरणा के बीच में, प्रायः संघर्ष की उत्पत्ति हो जाती है।** इस संघर्ष से शुद्ध तर्क का आरंभ होता है। लोगों का सामान्यतः यह विश्वास है, कि मृत्यु वैयक्तिक अस्तित्व की वास्तविक समाप्ति है। यह संघर्ष इस विश्वास को गंभीर चुनौति देता है। मनुष्य की आध्यात्मिक आकांक्षाएं, मृत्यु को, जीवन की समाप्ति के रूप में, पूर्णतः स्वीकार नहीं करती हैं। अतः, जीवात्मा की अमरता पर, मानव-मन बिना विशेष विरोध के ही, विश्वास कर लेता है, यद्यपि मृत्यु के पश्चात् जीवन के अस्तित्व के विषय में उसे कोई अप्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञान नहीं होता।

अशुद्ध बुद्धि तथा गंभीर अंतःप्रज्ञा के बीच संघर्ष।

व्यक्तिगत अनुभव के द्वारा, आत्मा की अमरता के तथ्य को जाननेवाले लोगों की संख्या बहुत थोडी होती है। **बहु संख्यक मनुष्य, मृत्यु के पश्चात् जीवन के अस्तित्व के संबंध में, अतीन्द्रिय ज्ञान से वंचित रहते हैं।**

ऐसे लोगों के लिये, आत्मा का अमरत्व एक स्वीकार करने योग्य या मानने लायक **विश्वास** से अधिक कुछ नहीं होता। किंतु कुछ मनुष्य **वैज्ञानिक रुचि** के कारण पर लोक से संपर्क स्थापित करने के साधनों की सृष्टि कर लेते हैं। कुछ लोग, अपनी विशेष परिस्थितियों के कारण या तो भूत आत्माओं का दर्शन करतें हैं, या उनसे ग्रस्त हो जाते हैं। कुछ ऐसे भी मनुष्य होते हैं, जो अपनी आध्यात्मिक उन्नति के स्वाभाविक क्रम में अपनी प्रसुप्त दर्शनशक्ति को जाग्रत करके, अंतर्जगत् की वास्तविकताओं को स्पष्टतः देख सकते हैं। कहना न होगा, की ऊपर वर्णित, कतिपय विभिन्न व्यक्तियों को हि, मृत्यु के पश्चात् जीवन के संबंध में, व्यक्तिगत अनुभव प्राप्त रहता है।

आत्मा की अमरता का भौतिक आधार

जीवात्मा भौतिक शरीर नहीं है, इस तथ्य के आधार पर ही, जीवात्मा की अमरता संभव है। मृत्यु के समय, जीवात्मा अपने स्थूल शरीर को त्याग देता है, और सूक्ष्म तथा मानसिक शरीरों के माध्यम के द्वारा, जीवात्मा अपने समस्त संस्कारों के सहित, अंतर्जगत् में निवास करता है। स्थूल शरीर के **माध्यम** का यह सांसारिक जीवन, जीवात्मा के अनवरत जीवन का केवल एक भाग है; उसके जीवन के अन्य भागों की अभिव्यक्ति अन्य संसारों में होती है।

तीन संसार

अपने स्थूल शरीर की सामान्य इंद्रियों के द्वारा, मनुष्य जो कुछ देख सकता है, प्रकृति उससे बहुत अधिक विस्तृत है। प्रकृति के प्रच्छन्न भाग सूक्ष्मतर पदार्थ तथा शक्तियों के बने हैं। प्रकृति

के सूक्ष्म भागों को उसके स्थूल भाग से विभाजित करने-वाली कोई खाई नहीं है। प्रकृति के सूक्ष्म भाग तथा स्थूल भाग परस्पर संबद्ध है। प्रकृति के स्थूल तथा सूक्ष्म भागों का अविच्छिन्न संबंध है, तथा दोनों का साथ-साथ अस्तित्व है। प्रकृति का स्थूल भाग मनुष्यों को दिखाई देता है, तथा उसके सूक्ष्म भाग उन्हें दिखाई नहीं देते। तो भी ये सूक्ष्म भाग स्थूल भाग से जुड़े हुए हैं। वे दूर नहीं हैं; तो भी वे उसकी चेतना के लिये दुर्बोध्य हैं। इसका कारण यह है, की सामान्य मनुष्यों की चेतना भौतिक इंद्रियों के द्वारा कार्य करती है, अतः उसे स्थूल संसार ही दिखाई देता हैं। स्थूल संसार से अधिक सूक्ष्मतर संसारों को देख सकने में, भौतिक इंद्रिय अपर्याप्त है। सामान्य मनुष्य, अंतर्जगत् की **आंतरिक भूमिकाओं** से अज्ञात रहता है, तथा ध्वनियों से चेतनापूर्वक मानसिक सूक्ष्म संसार मनुष्य के सूक्ष्म शरीर से संबद्ध है तथा वह कोई संबंध नहीं रख सकता। अतः, व्यवहारिक दृष्टि से, अंतर्जगत्-, सामान्य मनुष्य के लिये, 'परलोक' ही सिद्ध होता है। प्रकृति के प्रच्छन्न तथा सूक्ष्मतर भाग के सूक्ष्म तथा मानसिक संसार- ये दो मुख्य भेद हैं; और वे मनुष्य के सूक्ष्म तथा मानसिक शरीर से संबद्ध रहते हैं। अतः समस्त प्रकृति सुविधा के लिये, तीन भागों में विभक्त की जा सकती है (१) **स्थूल संसार**, (२) **सूक्ष्म संसार**, तथा (३) **मानसिक संसार**। जब जीवात्मा स्थूल शरीर धारण करके जन्म लेता है, तो वह स्थूल संसार में अपना जीवन अभिव्यक्त करता है। किंतु, जब वह स्थूल शरीर के बाह्य आच्छादन को त्याग देता हैं, तब भी उसके

जीवन की अभिव्यक्ति, या तो सूक्ष्म शरीर के द्वारा, सूक्ष्म संसार में जारी रहती है, या मानसिक शरीर के द्वारा, मानसिक संसार में।

असामायिक मृत्यु के अभाव

जो संस्कार एक जनम में प्रकट होने के लिए, विमुक्त होते हैं, उन सभी संस्कारों के क्रिया में परिणत हो जाने के पश्चात् ही उसका स्थूल शरीर जीवन सामान्यतः समाप्त होता है। किंतु, इस सामान्य नियम के कुछ अपवाद भी हैं। सभी संस्कारों के कार्य में परिणत होने के पूर्व ही, कभी कभी जीवात्मा स्थूल शरीर को त्याग देता है। उदाहरणार्थ जो मनुष्य **आत्महत्या** करता है, वह अपने जीवन की निश्चित अवधि को, कृत्रिम ढंग से संक्षिप्त कर देता है; और अपने कार्य में फलित होने के लिये विमुक्त संस्कारों को वह बीच में ही रोक देता है। **ऐसी असामायिक मृत्यु के परिणाम स्वरूप, संस्कारों की अभिव्यक्ति, बीच में ही जब रोक दी जाती है, तब अस्वाभाविक ढंग से मृत्यु को प्राप्त होनेवाला जीवात्मा, स्थूल शरीर त्याग देने के पश्चात् भी, संस्कारों की प्रेरक** (Propelling) **शक्ति के वशीभूत रहता है**। जब संस्कारों का क्रिया में परिणत होना, इस प्रकार रोक दिया जाता है, तब मृत्यु के पश्चात् के जीवन में भी, अफलित संस्कारों का वेग बना रहता है। फलतः ऐसा जीवात्मा मृत्यु के पश्चात् भी स्थूल संसार की वस्तुओं की बहुत बुरी तरह इच्छा करता है।

कृत्रिम रीति से मृत्यु को प्राप्त हुआ जीवात्मा, स्थूल संसार की ओर प्रचंड आकर्षण तथा अदम्य प्रवृत्ति का अनुभव

करता है। वह स्थूल वस्तुओं के भोग की ऐसी प्रबल इच्छा करता है, कि वह जीवित मनुष्यों के स्थूल शरिरों के द्वारा अपनी इच्छाओं की तृप्ति करता है।

पिशाच बाधा

अतः ऐसे जीवात्मा को, जब शराब पीने की प्रचंड इच्छा होती है, तो इस इच्छा की पूर्ति के लिये, वह अस्वाभाविक ढंग से ग्रहण करता है। जब, वह स्थूल संसार में, किसी जीवित मनुष्य को शराब पीते देखता है, तो वह उसके स्थूल शरीर से अपने आपको युक्त करके उसपर अपना अधिकार जमा लेता है, और उस मनुष्य के द्वारा, वह अपनी स्वयम् की इच्छा पूरी करता है। इसी प्रकार, यदि वह जघन्य तथा भयंकर क्रोध का अनुभव करना चाहता है, तो वह स्थूल संसार के क्रुद्ध मनुष्य के द्वारा, अपने क्रोध को व्यक्त करता है। **ऐसे मृत जीवात्मा अपने ही समान संसारवाले जीवित मनुष्यों से मिलने तथा उन्हें उत्पीड़ित करने का सदैव** अवसर खोजते रहते **हैं**। और जितने लम्बे समय तक, स्थूल संसार से अपना सम्पर्क बनाये रखने का वे यत्न करते हैं। **मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा का स्थूल जगत से यदि क्षीण से क्षीण संबंध भी शेष रहेगा, तो वह आत्मा के स्वाभाविक जीवन की अगति के लिये, एक घातक विघ्न सिद्ध होगा।** और जो इस अनिश्चित अवस्था के शिकार हो जाते हैं, वे खास तौर से अभागे हैं, क्योंकि जीवित मनुष्यों के शरीरों के द्वारा, अपनी स्थूल इच्छाओं की अस्वाभाविक पूर्ति करके, वे अपने आपको तथा औरों को अनावश्यक पीड़ा पहुंचाते हैं। एस अभाग आत्माओं की अपेक्षा, अन्य आत्माओं का मृत्यु के

बाद का जीवन अधिक सम तथा निर्विघ्न होता है।

सामान्यतः मृत्यु तभी होती है, जब उसके वे तमाम संस्कार कार्यान्वित हो जाते हैं, जिन्हें फलित करने के लिए, वह जन्म लेता है।

मृत्यु से दो जीवनों के बीच के अवकाश-काल का आरंभ होता है।

जब जीवात्मा अपने स्थूल शरीर का परित्याग करता है, तो स्थूल संसार से उसका पूर्ण संबंध-विच्छेद हो जाता है, यद्यपि संसारिक जीवन में, जो संसार वह संचित कर चुका होता है, उन समस्त संस्कारों के सहित, उसका अहम् तथा उसका मन सुरक्षित रहता हैं। बाधा पहुँचानेवाले प्रेतात्माओं के विपरीत, सामान्य प्रेतात्मा स्थूल जगत् से कोई संबंध न रखने की बने तक चेष्टा करते हैं। वे परिवर्तित परिस्थितियों द्वारा निर्धारित सीमाओं को शीघ्र ही स्वीकार कर लेते हैं; और कर्तृत्व हीनता **(state of subjectivity) की अवस्था** में, चले जाते हैं। इस अवस्था में, पार्थिव जीवन में किये गये कार्यों तथा उन कार्यों से संबद्ध संस्कारों का, मन ही मन स्मरण, तथा पुनारवलोकन की क्रिया होती रहती है। इस प्रकार, मृत्यु से, विश्राम का, प्रारंभ होता है। इस विश्राम-काल में, चेतना कार्य के स्थूल क्षेत्र से वापस समेट ली जाती है। **समाप्त होनेवाले स्थूल जीवन तथा आरंभ होनेवाले स्थूल जीवन के बीच का अवकाश-काल मृत्यु के द्वारा प्रारंभ होता है।**

———

पुनर्जन्म तथा कर्म

भाग २ रा

नरक और स्वर्ग

मृत्यु के समय, जीवात्मा अपने पांच-भौतिक शरीर को त्याग देता है। अतः मृत्यु के पश्चात्, स्थूल संसार का कोई ज्ञान नहीं रह जाता, क्योंकि स्थूल जगत् का ज्ञान स्थूल शरीर पर पूर्णतः निर्भर रहता है। यद्यपि स्थूल जगत् की चेतना का इस प्रकार अंत हो जाता है, तथापि स्थूल जगत् के अनुभवों के संस्कार, मानसिक शरीर में, सुरक्षित रहते हैं; और वे संस्कार अर्ध-सूक्ष्म क्षेत्र के द्वारा, अपने आपको व्यक्त करते रहते हैं। मृत्यु तथा द्वितीय जन्म के बीच के अवकाश-काल में, जीवात्मा की चेतना इन संस्कारों की ओर आकृष्ट होती है। परिणामतः, संचित संस्कारों का पुनरुज्जीवन तथा तत्संबंधी अनुभवों का पुनर्जागरण प्रारम्भ होता है। औसत मनुष्य सूक्ष्म वातावरण से अज्ञात रहता है। **वह पूर्णतः मनोगत अवस्था (Subjectivity) में मग्न हो जाता है। वह, पुनर्जाग्रत संस्कारों के जीवन में, लीन हो जाता है।**

मृत्यु के पश्चात् जीवन की तन्द्रावस्था

पार्थिव जीवन में होनेवाले सुख-दुख के अनुभवों की-अपेक्षा, मृत्यु के पश्चात के जीवन में होनेवाले सुख तथा दुख के अनुभव अधिक तीव्र होते हैं। **तीव्रीभूत यंत्रणा**

तथा आनन्द की मनोगत अवस्थाएं (Subjective States) क्रमशः नरक तथा स्वर्ग कहलाती है। नरक और स्वर्ग मन की अवस्थाएं हैं' उन्हें स्थान नहीं समझना चाहिये। यद्यपि मानसिक दृष्टि-कोण से, जीवात्मा के लिये उनका बड़ा भारी महत्त्व है, तथापि ये अवस्थाएं भी, दृश्य-संसार के स्थूल तर भ्रम के भीतर, सूक्ष्म तर भ्रम ही हैं।

नरक और स्वर्ग मन की अवस्थाएं है।

नरकावस्था तथा स्वर्गावस्था में, इच्छाएं अत्यधिक तीव्र हो जाती हैं, क्योंकि उन्हें, इन अवस्थाओं में, स्थूल शरीर के द्वारा व्यक्त होने की आवश्यकता नहीं रह जाती। जिस प्रकार, इच्छाएं तीव्र हो जाती हैं, उसी प्रकार उन इच्छाओं की पूर्ति अथवा अ-पूर्ति के अनुभव भी अत्यंत तीव्र हो जाते हैं। पार्थिव जीवन में, इच्छाएं तथा उनसे उत्पन्न आनन्द एवं यंत्रणाएं, स्थूल शरीर के माध्यम के द्वारा, अनुभव की जाती हैं। कहना न होगा, कि जीवात्मा अपने पार्थिव जीवन में, अपने उच्चतर शरीरों का भी उपयोग करता है। किंतु, पार्थिव जीवन में, आत्मा की चेतना, स्थूल शरीर की चेतना से बद्ध हो जाती है; अतएव, चेतना की क्रियाएं एक ज्यादा भ्रमावरण को पार करती हैं। परिणामतः, उनकी शक्ति सजीवता तथा तीव्रता में उसी प्रकार कमी आ जाती है, जिस प्रकार, मोटे काँच को पार करके आने पर, प्रकाश की किरणें अधिक क्षीण हो जाती हैं। **शरीर में निवास करने के समय, इच्छाओं**

स्थूल शरीर के परित्याग के अनन्तर इच्छाएं तथा अनुभव तीव्र हो जाते हैं।

और अनुभवों की तीव्रता कम हो जाती है, किंतु शरीर का निवासालय त्याग देने पर, इच्छाओं और अनुभवों की तीव्रता बढ़ जाती है।

स्थूल क्षेत्र में, इच्छाओं की तृप्ति के लिये इच्छा के बाह्य विषय की आवश्यकता होती है, किंतु स्वर्गावस्था में, इच्छाएं पूरी करने के लिये, किसी बाह्य पदार्थ की जरूरत नहीं पड़ती; केवल बाह्य पदार्थ के चिंतन से ही, इच्छाओं की पूर्ति की जाती है। जैसे, यदि कोई मनुष्य उत्कृष्ट संगीत सुनने की इच्छा करता है; तो वह उत्कृष्ट संगीत का मन-ही-मन चिंतन करके, संगीत सुनने का आनन्द प्राप्त करता है। स्थूल क्षेत्र में किसी भौतिक साधन के द्वारा, संगीत की ध्वनि के गुंजन की कल्पना करने से ही, काम चल जाता है। पार्थिव जीवन में भौतिक ध्वनियों के वास्तविक श्रवण से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसकी अपेक्षा, संगीत के काल्पनिक विचार से प्राप्त होनेवाला आनन्द, मृत जीवात्मा के लिये, कहीं ज्यादा होता हैं। **स्वर्गावस्था में, इच्छाओं और इच्छाओं की पूर्ति के बीच, कोई रूकावटें नहीं, क्योंकि कल्पना या भावना के द्वारा, आत्म-तृप्ति का आनन्द सदैव सुलभ रहता है, इच्छाओं की पूर्ति किसी बाह्य भौतिक सामग्री पर अवलंबित नहीं रहती।**

स्वर्गावस्था में विचार के द्वारा इच्छाओं की तृप्ति होती है।

सच तो यह है, कि पार्थिव जीवन में भी, कुछ मनुष्य, बिना किसी स्थूल पदार्थ पर अवलंबित हुए, अपनी इच्छाओं की तृप्ति का आनंद प्राप्त कर सकते हैं। जैसे बीथोव्हन

(Beethoven) बिलकुल बहरा होते हुए भी, केवल कल्पना के ही द्वारा, अपने स्व-रचित गीतों के श्रवण का अतीव आनन्द प्राप्त कर सकता था। **आलंकारिक भाषा में, यों कह सकते हैं, कि पृथ्वी पर ही स्वर्गावस्था में था।** इसी तरह, जो मनुष्य प्रेम-भाव से अपनी प्रियतमा का मन-ही-मन ध्यान करता है। वह अपनी प्रियतमा की उपस्थिति के अभाव में ही, केवल उसकी स्मृति तथा चिंतन के द्वारा सुख प्राप्त करता है। किंतु, मृत्यु के पश्चात्, स्वर्गावस्था में, काल्पनिक तृप्ति से प्राप्त, इस प्रकार का आनन्द, सैकडों गुना अधिक होता है, क्योंकि चेतना, बाह्य स्थूल शरीर के भार से, मुक्त रहती हैं।

पृथ्वी पर स्वर्ग।

कुछ इच्छाएं ऐसी होती हैं, जिनकी पूर्ति के लिये, स्थूल शरीर को, प्रत्यक्ष रूप से स्थूल पदार्थों को अधिकृत करके, उन्हें भोगने की आवश्यकता पड़ती है। कामुकता, अत्याहार, तथा मदिरा-सेवन की तामसी इच्छाएं इसी प्रकार की हैं। इन इच्छाओं की तृप्ति के लिये, भौतिक पदार्थ को अधिकृत करने, तथा उन पर आसक्त होने की भावना प्रधान रहती है। अतः ये इच्छाएं विशेषतः पार्थिव हैं। उन इच्छाओं में, योग्य वस्तु के संपर्क से उत्पन्न होनेवाली संवेदनाओं, एवं उत्तेजनाओं का ही प्राधान्य नहीं रहता; किंतु उनके भोग से शरीर में जो संवेदनाएं तथा उत्तेजनाएं उत्पन्न होती हैं, वे भी अत्यधिक होती हैं। इन तामसी इच्छाओं से, नरकावस्था की उत्पत्ति होती है।

तामसिक इच्छाओं से नरकावस्था की उत्पत्ति होती है।

सात्विक इच्छाओं की अपेक्षा तामसिक इच्छाओं में कोरी संवेदनाएं (Sensations) अनन्त गुना अधिक होती हैं। स्थूल इच्छाओं की संवेदनाएं बौद्धिक महत्व और सौंदर्य-शास्त्र विषयक कलापूर्ण तथा नैतिक मूल्य से सर्वथा शून्य होती है।

तामसिक तथा सात्विक इच्छाओं में अंतर

सात्विक इच्छाओं में, जैसे संगीत की इच्छा में, भौतिक ध्वनियों से इंद्रिय-संपर्क की चाह अवश्य रहती हैं, किंतु मनुष्य इन ध्वनियों को, स्वतंत्र रूप से महत्व नहीं देता। सौंदर्य व्यक्त कर सकने की अपनी योग्यता के ही कारण, ये ध्वनियां उसके लिये महत्व की चीजें होती हैं। इसी प्रकार, उपदेश सुनने की इच्छा का, जब मन पर अधिकार होता है, तो वह ध्वनिजन्य संवेदना के लिये नहीं, किंतु, उपदेश-ध्वनियों से प्राप्त होनेवाले बौद्धिक अर्थ तथा भाव-पूर्ण प्रभाव के लिये ही होता है।

यह स्पष्ट है, कि सात्विक इच्छाओं में कोरी संवेदनाओं का गौण स्थान है

तामसिक इच्छाओं में शारीरिक संवेदनाओं का स्थान।

संवेदनाओं पर अवलंबित विचार तथा भाव का प्रधान महत्व है। किंतु तामसिक इच्छाओं में, भौतिक पदार्थ से संबद्ध कोरी संवेदनाएं तथा उनके शारीरिक भोग से उत्पन्न होनेवाली उत्तेजनाएं ही प्रधान-तत्व होती हैं। **तामसिक इच्छाओं के भोग में, भौतिक शरीर की प्रतिसंवेदनाओं (Organic sensations) का ही प्रधान हाथ रहता है; और शारीरिक प्रतिसंवेदनाओं की प्रधानता के कारण, निकृष्ट,**

इच्छाओं में, जीवात्मा अपने को, अत्यंत प्रबलता तथा स्पष्टता के साथ, स्थूल शरीर समझता है। सात्विक इच्छाओं में, शारीरिक प्रांतसंवेदनाओं का प्रमुख हाथ रहता; अतः, जीवात्मा, उतनी प्रबलता तथा तीव्रता के साथ, अपने को स्थूल शरीर अनुभव नहीं करता।

हीन इच्छाओं की तृप्ति या अतृप्ति से प्राप्त होनेवाले अनुभवों का प्रायः सारा महत्व **शारीरिक** संवेदनाओं में ही सन्निहित हैं। अतः, तामसिक इच्छाओं के भोग में, वैसी पूर्णता का अनुभव कदाचित् ही होता है, जैसी केवल विचार और कल्पना के बलपर, सात्विक इच्छाओं के भोग में होता है। तामसिक इच्छाओं का यह लक्षण है, कि वे स्थूल पदार्थ पर अधिकार जमाने तथा उसे भोगने का आग्रह करती है। स्थूल पदार्थ का कोई भी काल्पनिक विचार, स्थूल पदार्थ को ग्रहण करने की उनकी प्रवृत्ति को तीव्र करने में सहायक होता है।

स्थूल पदार्थ की अप्राप्यता के कारण, तामसिक इच्छाओं की अतृप्ति।

चूँकि सूक्ष्म संसार में हीन इच्छाओं के स्थूल योग्य पदार्थ अप्राप्य होते हैं, अतः इन इच्छाओं के कारण, अतृप्ति-जन्य दुख का अत्यंत तीक्ष्ण अनुभव होता है। जिस प्रकार सात्विक इच्छाओं के पुनःस्मरण-जन्य अनुभव से, स्वर्गावस्था के सुखों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार, तामसिक इच्छाओं की पुनःस्मृति से, प्राप्त अनुभव से, नरकावस्था के दुखों की उत्पत्ति होती है।

जिस प्रकार इस संसार में तामसिक इच्छाओं के फल-स्वरूप, सुख की अपेक्षा दुख का भार अधिक हो जाता है,

उसी प्रकार, मृत्यु के पश्चात् के जीवन में भी, इन तामसिक इच्छाओं के पुनः **पुनःस्मरण से प्राप्त होनेवाले अनुभवों में, सुख की अपेक्षा दुख का भार अधिक होता है,** और इस प्रकार, **नरकावस्था** अस्तित्व में आती है।

नरक की यंत्रणाएं तथा स्वर्ग के आनंद

और, जिस प्रकार, इस संसार में, सात्विक इच्छाओं के परिणाम-स्वरूप, दुख की अपेक्षा सुख का भार अधिक हो जाता है, उसी प्रकार, मृत्यु के पश्चात् के जीवन में भी, सूक्ष्म इच्छाओं के पुनःस्मरण से प्राप्त होनेवाले अनुभवों में, **दुख की अपेक्षा सुख का भार अधिक होता है, जिससे स्वर्गावस्था की उत्पत्ति होती है।**

किंतु स्वर्ग और नरक की अवस्थाएं दोनों बंधन की अवस्थाएं हैं, **क्योंकि वे दोनों सुख और दुख के द्वन्द्वों के अधीन हैं।** इन दोनों अवस्थाओं की अवधि, संचित संस्कारों के गुण, परिमाण तथा बल के द्वारा, निर्दिष्ट होती है।

सूक्ष्म संसार में समय।

चेतना की मनोगत अवस्था (subjectivity) की अधिकता के कारण, सूक्ष्म संसार का समय, स्थूल संसार के समय से भिन्न होता है। यद्यपि सूक्ष्म संसार का समय स्थूल संसार के समय के सदृश नहीं होता, तथापि सूक्ष्म संसार-वास की अवधि, उन्हीं संस्कारों के द्वारा निर्दिष्ट होती है, जो स्थूल-संसार में संचित किये जाते हैं। महत्व की बात तो यह है, की नरकावस्था तथा स्वर्गावस्था, कोई स्थायी अवस्थाएं नहीं हैं, तथा जीवन में, ज्योंही उनका कार्य पूरा हो जाता है, त्योंही इन दोनों अवस्थाओं का अंत हो जाता है।

संस्कारों का पुनरुज्जीवन

वासना जैसे स्थूल कामेच्छा तथा तज्जन्य घृणा तथा क्रोध के परिणाम-स्वरूप, भ्रम तथा दुख का जीवन उत्पन्न होता है। ऐसे जीवन की अधिकता नरकावस्था है। तथा आदर्शात्मक आकांक्षाएं, सौंदर्यानुराग, कलाप्रेम, वैज्ञानिक, अभिरुचि तथा परहित-परायणता जैसी सात्विक इच्छाओं (तथा उनसे उत्पन्न होनेवाला व्यक्तिगत प्रेम तथा मानव-प्रेम जैसे भावों) के परिणाम-स्वरूप, आनंद तथा विवेक का जीवन उत्पन्न होता है। ऐसे जीवन की अधिकता स्वर्गावस्था है। **स्वर्गावस्था तथा नरकावस्था, अनेक मनुष्यों के लिये, पार्थिव जीवन के अनुभवों की ही पुनरावृत्ति रहती है।** पार्थिव जीवन के अनुभव, मानसिक शरीर पर, जो संस्कार संचित कर देते हैं, उन्हीं के पुनरुज्जीवन के द्वारा, जीवात्मा एक प्रकार का विश्राम अनुभव करता है। इन अवस्थाओं की अवधि तथा प्रकार, स्थूल शरीरगत पार्थिव जीवन के अनुभवों की अवधि तथा प्रकार पर अवलंबित रहते हैं।

नरक और स्वर्ग की समाप्ति।

जब साउंड-बॉक्स की सुई, ग्रामोफोन रिकॉर्ड पर अंकित प्रत्येक चक्र-पंक्ति को पार करती हुई, पूरी घूम चुकती है, तब जैसे ग्रामोफोन रिकॉर्ड हटा लिया जाता है, वैसे ही, **जब मन पर पार्थिव जीवन द्वारा चिन्हित संस्कारों पर, चेतना का विचरण पूरा हो जाता है, तब नरकावस्था तथा स्वर्गावस्था का अंत हो जाता है।** रिकॉर्ड में भरे जानेवाले प्रारंभिक गीत का जैसा प्रकार रहता है, वैसा ही ग्रामोफोन में बजनेवाले गीत का प्रकार रहता

है। इसी भाँति, भौतिक संसार में, स्थूल-शरीर के द्वारा, मनुष्य जैसा जीवन व्यतीत करता है, उस जीवन के गुण-धर्म पर, मृत्यु के पश्चात् जीवन के तीव्र तथा वर्धित अनुभवों का गुण-धर्म अवलंबित रहता है। इस दृष्टिकोण से, स्वर्ग तथा नरक, मनुष्य के पार्थिव जीवन की छाया हैं।

पार्थिव अनुभवों का सिंहावलोकन या पुनर्निरीक्षण।

यदि स्वर्ग और नरक, भूतकालीन पार्थिव जीवन की कोरी मानसिक स्मृति में ही सन्निहित होते, तो उनके द्वारा, जीवात्मा के जीवन में, किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती; ऐसी स्मृति मानों अतीत की घटनाओं की काल्पनिक पुनरावृत्ति मात्र होती। स्वर्ग और नरक की इन पश्चात् मरणावस्थाओं में, **चेतना आराम के साथ तथा प्रभावशाली रीति से, पार्थिव-जीवन-संचित पुनर्जीवित संस्कारों का सिंहावलोकन तथा निरीक्षण करने में समर्थ रहती है**। संस्कारजन्य अनुभवों की तीव्रता के कारण, चेतना उनके गुणों की सुविधापूर्वक जाँच करती है; और उस जाँच का परिणाम भी अच्छा होता है। **पृथ्वी पर, अधिकांश मनुष्यों की चेतना, प्रधानतः वस्तुनिष्ठ (Objective) तथा अग्रदर्शी (Forward Looking) हुआ करती है,** तथा अपूर्ण संस्कारों के दबाव के कारण, उसे **वर्तमान** में या **भविष्य** में, संस्कारों की तृप्ति की संभावना से ही विशेष प्रयोजन रहता है। किंतु मृत्यूत्तर जीवन में, अधिकांश मनुष्यों की चेतना, **प्रधानतः मनोगत (Subjective) तथा अतीतदर्शी (Retrospective) हुआ करती है;**

तथा आगे बढानेवाले संस्कारों के अभाव के कारण, वह भूतकाल के महत्व के सिंहावलोकन तथा परीक्षण में, मग्न रहती है, उसी प्रकार, जिस प्रकार अतीत-स्मृतियों (Reminiscences) के निरीक्षण में।

सिनेमा का सादृश्य।

पार्थिव जीवन में परिवर्तनशील परिस्थितियों के प्रति तुरंत उत्तर देने की आवश्यकता के कारण, चित्त सदैव अशांत तथा उद्विग्न रहा करता है। किंतु मृत्यु के पश्चात् के जीवन में, परिवर्तन-शील बाह्य परिस्थितियों का अभाव रहता है; अतः उनके प्रति तुरंत उत्तर देने की आवश्यकता न रहने के कारण चित्त अपेक्षाकृत अधिक विश्रांति तथा अवकाश का अनुभव करता है; तथा मृत्यूत्तर जीवन में, पार्थिव जीवन की संग्रहीत पूरी अनुभव-सामग्री भी अवलोकन सुलभ रहती है। पार्थिव जीवन में, समस्त अनुभवों की स्मृति संभव नहीं रहती; किंतु मृत्यूत्तर जीवन में संग्रहीत अनुभव अत्यधिक स्पष्ट हो जाते हैं। मन के सिनेमा फिल्म पर, समूचे पार्थिव जीवन के अनुभवों के चित्र अंकित हो चुके रहते हैं। **सिनेमा के परदे पर, जैसे चित्रित दृश्यों के विस्तृत तथा वर्धितरूप विश्राम-पूर्वक देखे जाते हैं, उसी प्रकार, मनोगत (subjectivised) चेतना के पडदे पर, पार्थिव जीवन के अनुभवों के सांसारिक चित्रों का विस्तृत तथा वर्धितरूप प्रगट होता है। इस प्रकार, अपने आरंभिक पार्थिव जीवन का अध्ययन करने के लिये, चेतना को पर्याप्त समय तथा अवकाश रहता है।**

पार्थिव जीवन में जो अनुभव संचित हो जाते है, नरकावस्था तथा स्वर्गावस्था में, उन्हीं **अनुभवों का पाचन** (assimilation) होता है। परिणामतः, जीवात्मा पचे हुए अनुभवों तथा भौतिक शरीर को लेकर, दूसरा जन्म आरंभ करता है। मृत्यूत्तर जीवन में, तीव्र आनंद प्रचंड पीड़ा की शक्ति से, **जाँच पड़ताल** तथा समालोचनात्मक सिंहावलोकन के द्वारा, जीवात्मा जो **सबक सीखता** है, वह मानसिक शरीर पर, प्रबल रूप से अंकित हो जाता है। यह सबक या शिक्षा-सार, दूसरे जन्म में सक्रिय चेतना के विधान में, आंतरिक प्रेरणा या अंतःज्ञान के रूप में विद्यमान रहता है। हाँ, पूर्वजन्म की जिन घटनाओं से, शिक्षा ग्रहण की जाती है, उन घटनाओं के विस्तृत स्मरण का लोप अवश्य हो जाता है। मृत्यूत्तर जीवन में, मन जो शिक्षा ग्रहण करता है, वही शिक्षा उसके दूसरे जन्म में अंतःप्रेरित सहज बुद्धि के रूप में विद्यमान रहती है। **पूर्वजन्मार्जित विभिन्न अनुभवों के समुदाय से छने हुए ज्ञान का सार ही विकसित अंतःप्रज्ञा** (intuition) है।

पार्थिव अनुभवों का परिपाक।

भिन्न भिन्न जीवात्मा, अंतःप्रज्ञा के विभिन्न अंश लेकर, जन्म लेते हैं। यह अंतःप्रज्ञा, पार्थिव जीवन के व्यापारों तथा उद्यमों को आरंभ करने के लिये, मानों पूँजी है। एक दृष्टि से, अंतःप्रज्ञा विगत अनुभवों का उत्पादन है, तथा अंतःप्रज्ञा अंतःकरण के कोष में वृद्धि करती है। किंतु अंतःप्रज्ञा को कोई नवीन उपलब्धि न मानकर, जीवात्मा

उत्पादन में, नरकावस्था तथा स्वर्गावस्था का हाथ।

में पूर्व से प्रसुप्त रूप से विद्यमान ज्ञान का उद्घाटन मानना, अधिक युक्ति संगत होगा। **इस गंभीरतर दृष्टि से, पार्थिव जीवन के अनुभव तथा मृत्यूत्तर जीवन की अतीतावलोकन की क्रिया–दोनों, रहनेवाले अंतःप्रज्ञा को, क्रमशः सतह पर लाने में, केवल बाह्य सहायक होते हैं।** पार्थिव जीवन एवं उसके अनुभवों के समान हीं, मृत्यु के पश्चात् के जीवन की स्वर्ग–नरकावस्थाएं भी, जीवात्मा का परमात्मा की ओर को जानेवाली यात्रा के अविच्छेद्य विभाग तथा घटनाएं हैं।

———

पुनर्जन्म तथा कर्म—

भाग ३ रा

पूर्व–जीवन का अस्तित्व तथा स्मृति

आत्मा के जीवन तथा उसके पुनर्जन्म संबंधी इंद्रियातीत सत्यों का; जिन्हें प्रत्यक्ष ज्ञान है; वे अपनी निर्मल प्रज्ञा के द्वारा, यह जानते हैं, कि तथाकथित जन्म स्थूल क्षेत्र में जीवात्मा का केवल अवतरण है। जन्म तथा मृत्यु जीवात्मा के अनवरत जीवन के केवल विराम-चिन्ह हैं। जन्म तथा मृत्यु **जीवन-धारा के दो प्रवेश द्वार** हैं, जिन के द्वारा वह एक प्रकार के जीवन को त्याग कर, दूसरे प्रकार के जीवन में प्रवेश करती है। जीवात्मा के महानतर जीवन के

जन्म तथा मृत्यु की घटनाएं

लिये, जन्म तथा मृत्यु के बीच का जीवन-काल, जीवात्मा के लिये, जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक उसके लिये मृत्यु तथा जन्म के बीच का जीवन-काल है।

कुछ लोग मृत्यु को वैयक्तिक अस्तित्व का अंत समझते हैं, तथा कुछ लोग शरीर के जन्म को, वैयक्तिक अस्तित्व का आरंभ मानते हैं, दोनो तरह के लोगों के मन में, उनकी भ्रांत-धारणा तथा उनके विवेक-सम्मत अंतःप्रज्ञा (rationalised intuition) के बीच संघर्ष रहता है। भौतिक सुख-समृद्धि में, कुछ लोग सौभाग्यशाली है, तथा कुछ लोग दुर्भाग्यग्रस्त हैं। वैयक्तिक न्याय के दृष्टि-कोण से, मनुष्यों के भाग्य की असमानता समस्त सृष्टि-प्रयोजन के औचित्य तथा न्यायपूर्णता के विपरित मालूम होती हैं। संसार में सज्जन कभी-कभी कष्ट भोगते दिखाई देते हैं; तथा दुष्ट जन आनन्दोल्लास तथा आमोद प्रमोद करते दिखाई देते हैं। इन दृश्यों को देख कर, यह मानने में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ आ खड़ी होती हैं, कि जीवन किसी दिव्य तथा अनन्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये है।

अंतःप्रज्ञा की दृष्टी में अद्भूत आवश्यकताएं

यदि इन कठिनाइयों का कोई गंभीर स्पष्टीकरण प्राप्त न हो, तो मानव-मन कष्टप्रद उलझनों तथा जटिल ग्रंथियों से ग्रस्त हो जाय। जीवन-संबंधी उसका विचार कटु हो जाय, जिसके परिणाम-स्वरूप मनुष्य अत्यंत निर्दय तथा मनुष्य-द्वेषी हो जाय। मनुष्य का निर्दय तथा मनुष्य-द्वेषी बन जाना, मृत्यु से उत्पन्न होनेवाले

गंभीर स्पष्टीकरण को स्वीकार करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति

महान् से महान् शोक की अपेक्षा भी, अधिक बुरा होगा। अनेक विरोधी दृश्यों के होते हुये भी, मनुष्य में **एक अंतर्जन्य प्रवृत्ति है, जिससे प्रेरित होकर, वह जीवन की यथार्थता तथा मूल्य पर, गंभीर तथा अटल श्रद्धा रखता है।** मानव मन, अधिकांश में उन गंभीर स्पष्टीकरणों को स्वीकार कर लेता है, जो उसकी आत्मा के गंभीर नियम से मेल रखते हों। कुछ मनुष्य ऐसी स्पष्टीकरणों का विरोध भी करते हैं। किंतु उनका विरोध बाह्य तथा कृत्रिम होता है।

जीवात्मा की अमरता के तथ्य को प्रत्यक्ष रूप से जाननेवालों की अपेक्षा, पुनर्जन्म के तथ्य को प्रत्यक्ष रूप से जाननेवाले और भी कम हैं। जीवात्मा के मानसिक शरीर में, गत जीवनों की स्मृतियां संचित तथा सुरक्षित रहती हैं; किंतु उन पर आवरण पड़ा रहता है। यही कारण है, कि सामान्य मनुष्यों की चेतना में, ये स्मृतियां प्रगट नहीं होती। जब आत्मा अपना स्थूल-शरीर त्यागता है, तो वह नया मस्तिष्क प्राप्त करता है; और उसके सामान्य जागरण की चेतना, मस्तिष्क की क्रियाओं के अनुसार, कार्य करती हैं। सामान्य परिस्थितियों में, वर्तमान जीवन की स्मृतियां चेतना में प्रगट हो पाती हैं, क्योंकि **विगत जीवनों में अन्य मस्तिष्कों के द्वारा संचित होनेवाले अनुभवों की स्मृतियों के प्रगट होने में, नवीन मस्तिष्क एक विघ्न सिद्ध होता है।**

नये मस्तिष्क का परिणाम।

नवीन मस्तिष्क के द्वारा उत्पन्न विघ्न के रहते हुये भी, पूर्वजन्म की कुछ स्मृतियां, वर्तमान जीवन में, चुपचाप घुस

आती हैं। ये स्मृतियां स्वप्नों के रूप में प्रगट होती हैं। ऐसे स्वप्न वर्तमान जीवन की सहायता से नहीं समझाये जा सकते। कोई मनुष्य, अपने स्वप्नों में, ऐसे मनुष्यों को देखता है, जिन्हें वर्तमान जीवन में, उसने कभी न देखा हो; बहुधा ऐसा होता है कि स्वप्न में प्रगट होनेवाले मनुष्य, वे मनुष्य होते हैं, जिनसे वह अपने पूर्वजन्म में मिला होता है। किंतु, ऐसे साधारण स्वप्न पूर्व जीवन की स्मृति नहीं समझे जा सकते; ऐसे स्वप्नों से, केवल यही प्रगट होता है, कि स्वप्न में कार्य करनेवाली कल्पना, मनुष्य के विगत जीवनों से ली गयी सामग्रियों से प्रमाणित हुई है। **गत जीवनों की वास्तविक स्मृति, वर्तमान जीवन की अतीत स्मृति की नाईं, सुस्पष्ट, स्थिर तथा असंदिग्ध होती है।** जब पिछले जीवनों की ऐसी स्मृति, किसी मनुष्य को प्राप्त होती हैं, तो उसे इस विषय में जरा भी शंका नहीं रह जाती, कि वह, अन्य मनुष्यों के साथ, अनेक जीवनों में रह चुका है। जिस प्रकार, अपने वर्तमान जीवन के बीते हुए भाग पर, वह संदेह नहीं कर सकता, उसी प्रकार, वह अपने पूर्व-जन्मों के जीवन पर संदेह नहीं कर सकता।

पूर्व-जन्मों की स्मृति।

बहुसंख्यक विशाल जन-समुदाय, अस्तित्व के स्थूल-क्षेत्र से, ऐसा बँधा हुआ रहता है, कि वह इंद्रियातीत तथ्यों पर संदेह तक नहीं करता। ऐसे लोगों की तुलना में, अपने पूर्वजन्मों का स्मरण कर सकनेवाले लोगों की संख्या बहुत थोड़ी होती है। चेतना जब तक स्थूल शरीर तथा

विगत जीवनों की स्मृति की प्राप्ति।

मस्तिष्क की क्रियाओं से बद्ध रहती है, तब तक नवीन मस्तिष्क की सीमाओं के कारण, पूर्व-जन्म की स्मृति की प्राप्ति में, रुकावट पैदा हो जाती है। किंतु, **जब मस्तिष्क के द्वारा निर्धारित सीमाओं से, चेतना मुक्त हो जाती है, तो वह मानसिक शरीर में संग्रहीत विगत जीवन की स्मृतियों की पुनःप्राप्ति तथा पुनःप्रतिष्ठा कर सकती है।** किंतु, इन स्मृतियों के उद्‌घाटन तथा उपलब्धि के लिये, बहुत कुछ अंशों में, **अनासक्ति एवं ज्ञान की** आवश्यकता होती है। आध्यात्मिकता में उन्नत मनुष्यों में ही, ऐसी अनासक्ति तथा ज्ञान विकसित होते हैं। जो आध्यात्मिकता में पूर्णतः सिद्ध नहीं हुए रहते, तथा जो मध्यवर्ती आंतरिक भूमिकाओं को ही पार करते रहते हैं उन्हें भी, निश्चित तथा स्पष्ट रूप से, विगत जीवनों की स्मृतियां प्राप्त हो जाती है।

कुछ असाधारण तथा विरले अपवादों के अतिरिक्त, विगत जीवनों की स्मृति तब तक प्राप्त नहीं होती, जब तक मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि से पर्याप्ततः उन्नत नहीं हो जाता। जीवन के नियमों के द्वारा निर्धारित यह शर्त, जीवन के अबाध आध्यात्मिक विकास के लिये, सहायक सिद्ध होती है। ऊपरी दृष्टि से देखने पर मालूम होता है, कि पिछले जीवनों की स्मृति का अभाव बड़ा भारी नुकसान है, किंतु यथार्थ में, वह कोइ नुकसान नहीं है। **अनेक बातों में, आध्यात्मिक विकास-क्रम की अग्र-गति को निर्दिष्ट करने के लिये, पिछले जीवनों की जानकारी आवश्यक नहीं है। आध्यात्मिक विकास का अर्थ है,**

पिछले जीवनों की स्मृति का अभाव आध्यात्मिक उन्नति में बाधक नहीं होता।

अंतःप्रज्ञा के द्वारा अनुभूत सर्वोच्च मूल्यों की प्राप्ति के लिए, जीवन को व्यवस्थित तथा निर्दिष्ट करना। जीवन को भूतकाल के द्वारा निर्दिष्ट करना आध्यात्मिक उन्नति नहीं है। अनेक मनुष्यों की आध्यात्मिक उन्नति के लिये, वर्तमान जीवन की अतीत-स्मृति भी बाधक सिद्ध होता है। जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों की आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्ति में, वर्तमान जीवन की बीती घटनाओं की याद, कई मनुष्यों के लिये, एक रुकावट साबित होती है। एक अर्थ में मुक्ति की समस्या **भूतकाल से मुक्ति** पाने की समस्या है। जीवन और मृत्यु के चक्र से बँधे हुए मनुष्यों के वर्तमान जीवन का कठोरता-पूर्वक नियंत्रण तथा रूप-निर्धारण उनका भूतकाल ही करता है।

जटिलताओं से रक्षण।

जिस मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति नहीं हुई है, यदि वह असंख्य पिछले जन्मों की याद से लाद दिया जाय, तो उसका जीवन सैकड़ों गुना अधिक जटिल हो जाय। पिछले जीवन की याद के परिणाम-स्वरूप, वह विभिन्न मनुष्यों को विभिन्न रूपों और पृष्ठ भूमियों में देखकर, वह चौंधिया जायगा। पिछले जीवनों के विस्मरण से, मनुष्य इन उलझनों से बचा रहता है। पिछले जीवनों की स्मृति के अभाव के कारण एक निश्चित प्रसंग तथा परिमित व्यवस्था के अनुसार उसकी दृष्टि में मनुष्य एवं उसके कार्य दिखाई देते हैं। मनुष्यों और उनके कार्यों के वर्तमानकालीन ज्ञान के अनुसार वह अपने कार्यों और संबंधों को निश्चित करता है। इसका यह अर्थ नहीं हैं, कि वर्तमान जीवन से वह जो ज्ञान प्राप्त

करता है, उसी क द्वारा, उसके कार्य तथा संबंध पूर्णतः निर्दिष्ट होते हैं। उसके पिछले जीवन की घटनाओं का भी, अज्ञात तथा निश्चित रूप से, उसके कार्यों तथा संबंधों को निर्दिष्ट करने में हाथ रहता है। किंतु, पिछले जीवनों के निश्चित प्रभाव के रहते हुये भी, यह बात सच है, कि **चूँकि विगत जीवनों की चेतन-स्मृति से वह सुरक्षित रहता है, अर्थात् चूँकि विगत जीवनों की स्मृति उसे प्राप्त नहीं होती। अतएव, उसकी चेतना अनेक उलझनों से ग्रस्त नहीं होने पाती। यदि वह पिछले जीवनों की स्मृति से रक्षित नहीं रहता तो उनकी चेतन-स्मृति के आधार पर, उसे अपने कार्य तथा पारस्परिक संबंध निर्दिष्ट करने पड़ते, जिससे उसके जीवन में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती।**

पूर्वजन्मों की स्मृति की प्राप्ति में सुरक्षा की शर्त।

जब मनुष्य निस्पृह हो जाता है, और जब उसकी 'मेरा' और 'तेरा' की भावना नष्ट हो जाती है, तभी वह पूर्वजन्मों की स्मृति प्राप्त करके भी उद्भ्रांत तथा अव्यवस्थित नहीं होता। पूर्वजन्मों की स्मृति से यह ज्ञात होगा, कि जो मनुष्य एक बार उसके थे, वे ही अब किसी दुसरे के हो गये हैं, और वह अपनी प्राचीन आसक्ति तथा संबंध का वर्तमान जीवन में दावा करने लगेगा, तो वह अपने तथा औरों के लिये, अकथनीय उलझन, पीड़ा तथा अव्यवस्था पैदा करेगा। **पूर्वजन्म की स्मृति की प्राप्ति से उत्पन्न होनेवाले उद्वेगजनक प्रभाव का सामना करने की आध्यात्मिक योग्यता की उपलब्धि के लिये,**

यह नितान्त आवश्यक है, कि साधक अपने मन से, सब प्रकार की आसक्ति तथा अधिकार-भावना को निकालकर फेंक दे।

जब मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि से योग्य हो जाता है, तो वह पूर्णतः इच्छा-रहित तथा सार्वलौकिक प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। वैयक्तिक अहंकार के तमाम बंधनों से उसका मन मुक्त हो जाता है। **वह अपने सारे समस्त शत्रुओं तथा मित्रों को समत्व बुद्धि से देखने लगता है।** वह इतना राग-द्वेष-रहित हो जाता है, कि अपने पिछले जीवन तथा वर्तमान जीवन के सभी संबंधियों तथा असंबंधियों के प्रति, समान रुख धारण कर सकता है। उसका न तो औरों पर कोई दावा रहता है, और न औरों का उस पर कोइ दावा रहता है. क्योंकि उसे समस्त जीवन की एकता तथा सांसारिक घटनाओं की भ्रामकता का ज्ञान प्राप्त हो गया रहता हैं।

आध्यात्मिक तैयारी।

मनुष्य की जब ऐसी आध्यात्मिक तैयारी हो जाती है, तभी वह पिछले जीवन की स्मृति की प्राप्ति से अप्रभावित रहता है, और तभी ऐसी स्मृति को प्राप्त करना, उसके लिये उपयोगी होता है, आध्यात्मिक दृष्टि से योग्य होने पर ही, वह शुद्ध, विवेक तथा निर्मल प्रेम से युक्त होता है। इस शुद्ध विवेक तथा निर्मल प्रेम के बल पर ही, वह पुनर्जन्मों के स्मरण से प्राप्त अपने नवीन ज्ञान का सदुपयोग कर सकता है। पूर्वजीवनों की स्मृति से, उस अपने पिछले जीवनों के संबंध में, तथा

पूर्वजीवनों की पुनरुज्जीवित स्मृति का विवेक-युक्त उपयोग।

पिछले जीवनों के अपने संबंधियों के जीवनों के संबंध में, विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है। **इस ज्ञान की सहायता से, वह बुद्धिमत्ता-पूर्वक अपने कर्मों तथा संबंधों को सुव्यवस्थित करके, आध्यात्मिक साधना-पथ पर अग्रसर हो सकता है,** इस स्मृति की सहायता से वह दूसरे मनुष्यों का भी, उनके पिछले जीवन की जानकारी के आधार पर, पथ-प्रदर्शन कर सकता है, तथा उनकी आध्यात्मिक सहायता कर सकता है।

पुनरुज्जीवित स्मृति से लाभ।

विगत जन्मों की स्मृति को स्वाभाविक रीति से प्राप्त करने के पश्चात्, आध्यात्मिक उन्नति की गति क्षिप्रतर हो जाती है। अपने सांसारिक बंधनों के विकास-क्रम का विस्तृत इतिहास ज्ञात हो जाने के कारण, उन बंधनों से मुक्त होना आसान हो जाता है। जो विकास, अपने को सीमित करनेवाले भूतकाल से अज्ञात था, वह उसे अब जानने लगता है; **भूतकाल-द्वारा उत्पन्न सुविधाओं तथा कठिनाइयों का ज्ञान हो जाता है, जिससे उनसे सावधानीपूर्वक निपटने में, सहायता मिलती है।** मूक अंतःप्रज्ञा को तर्क-सम्मत विवेक की वाणी मिल जाती है, जिससे गलत कार्य करने की संभावना नहीं रह जाती, तथा सही कार्य के द्वारा, वांछित फलों की सिद्धि करने का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है।

सिद्ध सद्गुरुओं या ज्ञानी पुरुषों को, पिछले जीवनों से कोई विशेष रुचि नहीं होती; उनके लिये, वे पार्थिव अस्तित्व में के अनेक निःसार वस्तुओं के तुल्य हैं। यदि वे किसी मनुष्य के पिछले जीवनों के अपने ज्ञान का कभी उपयोग

करते भी हैं, तो केवल उसकी आध्यात्मिक उन्नति करने के ही उद्देश्य से। मनुष्यों के पिछले जीवनों का ज्ञान रहने के कारण, वे मानों एक विशिष्ट स्थिति में आसीन रहते हैं, अर्थात वे साधक को ऐसी उपयुक्त सहायता दे सकते हैं, जिसकी उसे जरूरत हो। साधना-पथ की भीतरी बातें (१) पिछले जीवन की घटनाओं (२) पिछले जीवनों में सर्वोच्च सत्य की शोध करने की साधक की रीति तथा, (३) पिछले कार्यों के फल स्वरूप उत्पन्न साधक की बाधाओं तथा सुविधाओं के द्वारा, निर्दिष्ट होतीं हैं। ये सब बातें साधक को अज्ञात रहतीं हैं; किंतु गुरु से छिपी नहीं रहती। सत्य के साधक की आध्यात्मिक उन्नति की गति को क्षिप्र करने के लिये, गुरु अपने इस ज्ञान का उपयोग करता है। अनेक जन्मों के प्रयोग, परीक्षा तथा अनुसंधान के द्वारा, साधक जिस स्थान में पहुँचा रहता है, उस स्थान से गुरु उसे आगे बढाता है। **अधिक तथा सही ज्ञान से, शक्ति और समय का अपव्यय नहीं होता, यह बात सांसारिक विषयों के संबंध में जितनी सच है, उतनी ही आध्यात्मिक विषयों के संबंध में भी सच है।**

पिछले जीवनों के ज्ञान से पथ संक्षिप्त हो जाता, तथा यात्रा सरल हो जाती है।

पुनर्जन्म तथा कर्म

भाग ४ था

पुनर्जन्म निर्दिष्ट करनेवाली विशिष्ट घटनाएं

जीवात्मा का आरंभ तथा उद्गम उस परमात्मा की अनन्त, निराकार स्त्री-पुरुष-भेद शून्य तथा अविभाज्य सत्ता से है, जो द्वैत तथा विकास के समस्त रूपों से परे है। **जीवात्मा के आरंभ से ही, द्वैत तथा विकास का आरंभ होता है। स्त्री-पुरुष-भेद पर अवलंबित प्रार्थक्य तथा आकर्षण से संबंध रखनेवाला द्वैत का विशिष्ट रूप, विकास की बाद की अवस्था में प्रकट होता है।** ज्योंही कर्ता (चेतना का केंद्र) तथा विषय (कर्ता के वातावरण) की उत्पत्ति होती है, त्योंही द्वैत का अस्तित्व शुरू हो जाता है, फिर चाहे चेतना अत्यन्त अस्पष्ट तथा क्षीण रूप में क्यों न हो। किंतु स्त्री-पुरुष-भेद एक विशिष्ट प्रकार का **शारीरिक आकर्षण है।** इस आकर्षण के लिए ये बातें आवश्यक है– रूपों की विभिन्नता, रूपों से अंतःकरण की एक विशिष्ट आसक्ति तथा जीवन और शक्ति की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति।

स्त्री-पुरुष-भेद द्वैत का एक विशिष्ट रूप है।

धातु-जगत् में लिंगभेद का अभाव है। वनस्पतियों तथा वृक्षों की दुनिया में, शारीरिक लिंगभेद तथा उससे संबंध रखनेवाली विशिष्ट प्राणक्रिया का अस्तित्व पाया जाता है। किंतु वनस्पतिओं और वृक्षों **में, स्त्री-पुरुष-भेद की चेतना** (sex-consciousness) का

धातुजगत में तथा वनस्पतियों में लिंगभेद

अभाव है, क्योंकि उनमें चेतना का विकास इतने आरंभिक रूप में हुआ रहता है, कि उसकी अभिव्यक्ति ये शारीरिक भेदों से प्रभावित नहीं होती। चूंकि वनस्पति चौधे तथा वृक्ष जमीन में गड़े रहते हैं, अतः उनमें स्त्री तथा पुरुष का सम्पर्क **प्रत्यक्ष रूप से न होकर,** वायु आंधी तथा भ्रमरों की **मध्यस्थता के** द्वारा, अप्रत्यक्ष रीति से प्रस्थापित होता है। अतएव, यद्यपि रूपों के कारण के दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है, कि पौधों और वृक्षों की अवस्था से ही स्त्री-पुरुष भेद का आरंभ हो जाता है, किंतु **उनकी चेतना** के दृष्टिकोण से यह कहना ठीक होगा, कि उनमें स्त्री-पुरुष का भेद नहीं रहता, क्योंकि **उनकी द्वैत-चेतना स्त्री-पुरुष-भेद की स्पष्ट भावना से शून्य रहती है।**

पक्षियों तथा पशुओं में स्त्री-पुरुष-भेद

स्त्री-पुरुष-भेद संबंधी द्वैत के विकास-क्रम में, धातुओं तथा पक्षी और पशुओं के बीच में पौधों तथा वनस्पतियों का स्थान है। धातुओं में स्त्री-पुरुष-भेद का सर्वथा अभाव है, तथा पक्षी और पशुओं में, स्त्री-पुरुष-भेद पूर्णतः विकसित है। मानवीय रूप में जन्म लेने से ठीक पहले, जीवात्मा पूर्ण चेतना तथा शक्ति से संपन्न होकर, पशुओं के रूप में, उत्पन्न होता है। इसके पश्चात्, वह पशु-शरीर त्याग कर, मनुष्य-शरीर धारण करता है। **उपमानवीय रूपों तथा योनियों में जन्म ले चुकने के बाद, जीवात्मा मनुष्यों में प्रवेश करके, मनुष्य-शरीर धारण करता है।**

पशुओं में स्त्री-पुरुष-भेद केवल शरीर–भेद तथा तत्संबंधी क्रियाओं के ही द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता; किंतु वह उनकी चेतना को भी गंभीरतापूर्वक प्रभावित करता हैं। वानर जैसे विकसित पशुओं से ही, मनुष्य चेतना तथा शरीर की प्राप्ति करते हैं। अतः, पशु अवस्था में विद्यमान स्त्री-पुरुषसंबंध द्वैतभाव भी उन्हें पशुओं से उत्तराधिकार में प्राप्त होता है। **मनुष्यों में स्त्री-पुरुष-भेद इतना पूर्ण रूप विकसित हो जाता है, कि वह केवल शरीर–भेद तक ही सीमित नहीं रहता; किंतु वह अंतः करण को भी, पूर्णतः प्रभावित कर देता हैं।** मनुष्यों के शरीरों में ही स्त्री-पुरुष-भेद नहीं रहता, किन्तु उनके अंतः-करण में भी, यह स्त्री-पुरुषभाव लिंगभेद के अनुसार, समाविष्ट हो जाता है।

स्त्री-पुरुष भाव के कारण, अंतःकरण प्रभावित हो जाता है।

मनुष्य-योनि में पदार्पण करने अर्थात् मानवीय रुप प्राप्त करने के पश्चात्, जीवात्मा नियमानुसार **पशु-योनि में फिर** नहीं लौटता। मनुष्यों की जीवात्मा का उपमानवीय योनियों में प्रवेश अपवाद-रुप रहता है। जीवात्मा का विकास-क्रम यह है, कि वह मानवीय पद प्राप्त कर लेने के बाद, बारंबार मनुष्य–रुप ही धारण करता है। तथा असंख्य बार मनुष्य योनि में ही जन्म धारण करता है। हाँ, संस्कारों तथा आत्मा की आवश्यकताओं के अनुसार, वह कभी पुरुष–रुप में जन्म लता हैं, तो कभी स्त्री-रुप में।

स्त्री तथा पुरुषों का जन्म

स्त्री–रुप की यह असाधारण विशेषता है, कि सद्गु-

ऋषों तथा संतों को भी स्त्री–देह के द्वारा ही जन्म लेना पड़ता है। किंतु पुरुष-रुप की यह असाधारण विशेषता है, कि बहुसंख्यक सद्गुरु पुरुष–रुप में जन्म लेते हैं। स्त्रीयां संत तथा सद्गुरु बन सकतीं हैं; किंतु अवतार सदैव पुरुष-रुप में प्रकट होता है।

स्त्री-रुपों तथा पुरुष-रूपों के असाधारण अधिकार।

जीवात्मा पूर्वजन्मों में जो विशिष्ट संस्कार संचित करता है, उन्हीं संस्कारों के द्वारा, उसके जीवन की सुविधाएं तथा बाधाएं, सामान्यतः निर्दिष्ट होती हैं। संग्रहीत संस्कारों के गुणधर्म पर ही जीवात्मा की आगे की उन्नति अवलंबित रहती है, अर्थात् संस्कारों के प्रकार पर ही, उसकी अगली उन्नति की अवश्यकताएं निश्चित होतीं हैं। जीवात्मा का पूर्वी देशों में जन्म लेना, या पश्चिमी देशों में जन्म लेना, अथवा उसका स्त्री–रुप में जन्म लेना, या पुरुष-रुप में जन्म लेना, अथवा उसका सृष्टि के एक युगचक्र में जन्म लेना, या सृष्टि के दूसरे युगचक्र में जन्म लेना, आदि बातें उसके संचित संस्कारों पर ही निर्भर रहती है। एक खास जन्म के द्वारा मिलनेवाली सुविधाएं, केवल स्त्री–रुप में जन्म लेने या पुरुष-रुप में जन्म लेने पर ही निर्भर नहीं रहतीं; किंतु इस बात पर भी अवलंबित रहती हैं, कि जीवात्मा सृष्टि के एक चक्र में जन्म लेता हैं, या अन्य चक्र में, अथवा वह पूर्वी गोलार्ध में जन्म लेता है, कि पश्चिमी गोलार्ध में।

जन्म की सुविधाएं तथा बाधाएं, संचित संस्कारों के द्वारा, निर्दिष्ट होती हैं।

एक मोटे हिसाब से कहा जा सकता है, कि आज पूर्वीय देशों ने, भौतिक विषयों की अपेक्षा, आध्यात्मिक विषयों में ज्यादा उन्नति की है। फलतः पूर्वी लोगों के मन में, ईश्वर के लिये एक सहज आकांक्षा रहती है। इसके विपरीत, पाश्चात्य देशों ने आध्यात्मिक विषयों की अपेक्षा, भौतिक विषयों में, अधिक प्रगति की है। परिणामतः, पाश्चात्य मन में, बौद्धिक तथा कलात्मक विषयों की ओर, एक सहज प्रवृत्ति तथा रुचि है। प्राच्य देशों में जन्म लेनेवाले मनुष्य, पाश्चात्य देशों में जन्म लेनेवाले मनुष्य की अपेक्षा, आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रायः अधिक प्रवृत्ति लेकर आता है; तथा पाश्चात्य देश में जन्म लेनेवाला मनुष्य, प्राच्य देश में जन्म लेनेवाले मनुष्य की अपेक्षा भौतिक की ओर अत्याधिक प्रवृत्ति लेकर आता है। किन्तु, **विभक्त जीवन की श्रृंखलाओं से मुक्त होने के पूर्व, जीवात्मा को जीवन के भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों भागों का अनुभव करना पड़ता है;** अतएव, एक ही जीवात्मा को पूर्व में भी जन्म लेना पड़ता है, तथा पश्चिम में भी।

पूर्व तथा पश्चिम।

यदि जीवात्मा, पूर्वी देश में लगातार अनेक बार जन्म ले चुकने के पश्चात्, पश्चिमी देश में जन्म लेता है, तो वह पूर्वी देश के अपने जीवनों में संचित हुए संस्कारों को अपने साथ ले जाता है; तथा पश्चिमी देश में वह जो जीवन व्यतीत करता है, वह मूलतः पूर्वी नमूने के अनुसार होता है। इसी भांति, यदि पाश्चात्य देश में लगातार अनेक जन्म ले

जन्म के क्षेत्र का परिवर्तन।

चुकने के पश्चात्, जीवात्मा पूर्वी देश में जन्म लेता है, तो वह पाश्चात्य देश में व्यतीत किये हुए अपने जीवनों से प्राप्त संचित संस्कारों को अपने साथ ले जाता है; और पूर्वी देश में रहकर भी, वह ऐसा जीवन व्यतीत करता है, जो पाश्चात्य नमूने से मेल रखता हैं । इस प्रकार, **भारतीय शरीर में योरोपीय आत्मा, तथा योरोपीय शरीर में भारतीय आत्मा देखने में आते हैं** । यह बात ध्यान में रखनी चाहिये, कि यह भेद पूर्वजन्मों तथा संस्कारों से संबंध रखता है, किंतु आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में ऐसे भेदभाव से सर्वथा परे हैं ।

सृष्टि के युगचक्र ।

स्त्री–रुप में जन्म लेने से जो सुविधाएं प्राप्त की जाती हैं, या पुरुष-रुप में जन्म लेने से जो सुविधाएं प्राप्त की जाती हैं, वे सर्वथा परिवर्तनरहित होती हैं, ऐसी बात नहीं हैं । पूर्व या पश्चिम में जन्म लेने के अनुसार, या सृष्टि के युगों के परिवर्तन होने के अनुसार, ये सुविधाएं बदलती रहती हैं । किन्हीं युगों में, स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक क्रियाशील, शक्तिशाली, तथा भौतिक बुद्धिप्रधान होते हैं; किन्हीं युगों में, इसके विपरीत होता है । भूतकाल में, प्राच्य स्त्रिया वीर तथा विदुषी होती थी । पति के सुख तथा कल्याण के लिए, कोई भी त्याग उनके लिए न करने योग्य नहीं होता था; उनकी आध्यात्मिक नम्रता पति को साक्षात् परमेश्वर समझने की सीमा तक पहुंच गई थी । किंतु, आज पूर्वी गोलार्ध में, औसत-स्त्री की अपेक्षा औसत-पुरुष अधिक आध्यात्मिक वृत्तिप्रधान है; तथा पश्चिमी गोलार्ध में औसत-पुरुष की अपेक्षा औसत-स्त्री अधिक

आध्यात्मिक वृत्तिप्रधान हैं। पूर्व देश निवासी मनुष्य पश्चिम देश निवासी मनुष्य से भिन्न हैं; तथा पूर्व देश निवासी स्त्री पश्चिम देश निवासी स्त्री से भिन्न हैं। मजा तो यह है, कि **एक ही** जीवात्मा-सृष्टि के युग के अनुसार, शरीर-भेद के अनुसार, तथा पार्थिव क्षेत्र के अनुसार, स्त्री तथा पुरुषों में, आध्यात्मिक या भौतिक बातों में श्रेष्ठता, हीनता तथा समानता के विभिन्न अंशों को प्रकट करता है।

———

पुनर्जन्म तथा कर्म

भाग ५ वा

पुरुष-जन्म तथा स्त्री-जन्म की आवश्यकता

जिस युग तथा जिस स्थान में जन्म होता है, उनके अनुसार यद्यपि स्त्री-जन्म से प्राप्त होनेवाली सुविधाएं तथा पुरुष–जन्म से प्राप्त होनेवाली सुविधाएं भिन्न-भिन्न होती हैं, तथापि यह बात सच है, कि **स्त्री-जन्म से एक खास दिशा में अनुभव का विकास करने के लिए, विशिष्ट सुविधाएं प्राप्त होती हैं; तथा पुरुष-जन्म से भी, एक खास दिशा में अनुभव का विकास करने के लिए, विशिष्ट सुविधाएं प्राप्त होती हैं।** पुरुष-जन्म के द्वारा, जो सबक आसानी से सीखे जा सकते हैं, वे सबक स्त्री-जन्म के द्वारा, सरलतापूर्वक नहीं सीखे जा सकते; तथा स्त्री-जन्म के द्वारा, जो शिक्षाएं आसानी से सीखी जा सकती हैं, वे ही शिक्षाएं पुरुष-जन्म के द्वारा,

पुरुष-रूप तथा स्त्री-रूप की विशिष्ट सुविधाएं।

सरलता के साथ नहीं सीखी जा सकतीं। **यह एक नियम है, कि पुरुषों में बुद्धि तथा इच्छा-शक्ति के गुणों की अधिकता होती हैं;** उनमें सही निर्णय तथा दृढ़ निश्चय करने की योग्यता होती हैं। इसके विपरीत **स्त्रियों में, नियमानुसार, हृदय के गुणों की अधिकता होती हैं;** उनमें प्रेम करने की योग्यता होती है; तथा वे अपने प्रियतम के लिए, महान् से महान् त्याग सहर्ष कर सकती हैं। स्त्रियों की प्रेम करने की इस क्षमता के ही कारण, भक्त लोग अपने संबंधनों में स्त्री के नाम को प्रथम स्थान देते हैं। जब भक्त-गण भजन-कीर्तन करते हैं, तो वे सीताराम या राधा-कृष्ण कहते हैं। हृदय के गुणों में, प्रायः, स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा श्रेष्ठ होती हैं; तथा संकल्प-शक्ति के गुणों में, प्रायः, पुरुष स्त्रियों की अपेक्षा श्रेष्ठ होती हैं। मनोरंजन बात तो यह है, कि एक ही आत्मा स्त्री-रुप धारण करके, हृदय के गुणों में श्रेष्ठता को प्राप्त होता है, तथा पुरुष-रुप धारण करके बुद्धि तथा इच्छा-शक्ति के गुणों में, श्रेष्ठता को प्राप्त होता है। विशिष्ट आध्यात्मिक गुणों की बारी-बारी से उन्नति करने के लिए, एक ही आत्मा बारी-बारी से, कभी पुरुष-रुप में जन्म लेता तो कभी स्त्री–रुप में जन्म लेता हैं। **इसी प्रकार, बारी-बारी से कभी स्त्री-रुप में, तथा कभी पुरुष-रुप में, तब तक बदल बदल कर जन्म लेता रहता है, जब तक उसकी सर्वांगीण उन्नति नहीं हो जाती।**

आत्म-ज्ञान के लिये, पुरुष-जन्म तथा स्त्री-जन्म, दोनों सामान्यतः आवश्यक हैं; अतः पुरुष-जन्म को स्त्री-जन्म से श्रेष्ठ या स्त्री-जन्म को पुरुष-जन्म से श्रेष्ठ मानना गलत है।

यद्यपि स्त्री-जन्म से प्राप्त होनेवाली सुविधाओं, तथा पुरुष-जन्म से प्राप्त होनेवाली सुविधाओं में प्रकारान्तर है, तथापि दोनों जन्म अनिवार्य हैं। **एक ही आत्मा के लिए, स्त्री-जन्म में प्रगट होना, तथा पुरुष-जन्म में प्रकट होना अत्यंत आवश्यक है। दोनों जन्मों में प्रकट होने पर ही, उसका अनुभव सर्वांगीण तथा परिपक्व होता है। अनुभव की परिपक्वता के पश्चात् ही आत्मा को आगे चलकर, यह ज्ञान प्राप्त होता है, कि वह स्त्री-पुरुष-भेद संबंधी तीव्र द्वैत-भाव तथा द्वैत के समस्त अन्यान्य रूपों से परे है।**

पुरुष-जन्म तथा स्त्री-जन्म दोनों समानतः आवश्यक हैं।

अनेकों बार पुरुष-रुप तथा अनेकों बार स्त्री-रुप में जन्म ले चुकने के पश्चात्, आत्मा समस्त संस्कारों से मुक्त होता है। यदि ऐसा न होता, अर्थात् आत्मा या तो केवल पुरुष-रुपों में ही जन्म लेता, या तो केवल स्त्री-रुपों में ही जन्म लेता, तो उसका अनुभव एकांगी तथा अधूरा ही रह जाता। अनुभव का द्वैत, ज्ञान के द्वारा दूर होता है; यदि द्वन्द्व की केवल एक ही सीमा के भीतर, अनुभव चक्कर काटता रहता, तो अनुभव-द्वन्द्व का पूर्ण ज्ञान हो सकना असंभव हो जाता। **भोक्ता तथा भोग्य विषय की एकता का ज्ञान, तब तक अप्राप्य रहता है, जब तक भोग्य विषय के किसी भाग का अनुभव बाकी रह जाता है। यह बात, स्त्री-पुरुष-संबंधी द्वैत पर, खास तौर से लागू होती है।**

पुरुष-जन्म तथा स्त्री-जन्म परस्पर पूरक हैं।

आत्मा के अंतःकरण में पुरुष-जन्मों की अनुभव-राशि भी संचित रहती है, तथा स्त्री-जन्मों की भी अनुभव-राशि। आत्मा अपने को शरीर समझने लगता है। यही वजह है, कि अंतःकरण की प्रवृत्तियां, शरीर के लैंगिक प्रकार (sex) से युक्त हो जाती हैं, तथा शरीर-भेद के विशिष्ट गुणधर्म के अनुसार ही, अपनी विशिष्ट अनुभव-राशि को अभिव्यक्त करती हैं। आत्मा के अंतःकरण में संचित दोनों जन्मों की अनुभव-राशि में से, पुरुष-शरीर के द्वारा केवल पुरुष-जन्मों की संचित अनुभव-राशि को अभिव्यक्त होने का उपयुक्त साधन मिलता है; तथा स्त्री-जन्मों की संचित अनुभव-राशि अंतःकरण के अचेतन भाग में दब जाती है, क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति के लिए, पुरुष-शरीर एक अनुकूल साधन नहीं होता। इसी प्रकार, आत्मा के अंतःकरण में संचित दोनों जन्मों की संचित अनुभव-राशियों में से, स्त्री-शरीर के द्वारा, केवल स्त्री-जन्मों की संचित अनुभव-राशि को अभिव्यक्त होने का युक्त माध्यम मिलता है; तथा पुरुष-जन्मों की संचित अनुभव-राशि अंतःकरण के अचेतन भाग में दब जाती हैं, क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति के लिए, स्त्री-शरीर एक अनुकूल साधन नहीं होता। जब आत्मा स्त्री-शरीर धारण करता है, तो पुरुष-प्रवृत्तियां प्रसुप्त तथा दबी हुई रह जाती हैं; तथा केवल स्त्री-प्रवृत्तियां अभिव्यक्त होती हैं। इसी भाँति, जब आत्मा पुरुष-शरीर धारण करता है, तब स्त्री-प्रवृत्तियां मानों

अंतःकरण का विभाजन।

सुप्त, रुकी हुई तथा दबी हुई रह जाती हैं; और केवल पुरुष-प्रवृत्तियां अभिव्यक्त होती हैं।

स्त्री-पुरुष आकर्षण तथा बद्धता का कारण।

आत्मा अपने को शरीर समझता है। आत्मा का शरीर से तादात्म्य अनुभव करने का अर्थ यह है, कि आत्मा शरीर के लैंगिक प्रकार (sex) से भी, तादात्म्य अनुभव करता है। पुरुष-शरीर धारण करने पर, वह अपने को पुरुष, तथा स्त्री-शरीर धारण करने पर, वह अपने को स्त्री समझता हैं। पुरुष-शरीर धारण करने पर, जब आत्मा अपने को पुरुष, तथा स्त्री-शरीर धारण करने पर, वह अपने को स्त्री समझता है। पुरुष-शरीर धारण करने पर; जब आत्मा अपने को पुरुष समझने लगता है, तब उसके अंतःकरण की केवल पुरुष- प्रवृत्तियां ही, साधन की अनुकूलता के कारण, अभिव्यक्त हो पाती हैं, तथा स्त्री-प्रवृत्तियां, अंतःकरण के अचेतन भाग में, प्रसुप्त तथा दबी रह जाती है। अतः उनके दब रहने या अभिव्यक्त न हो सकने के कारण, अंतःकरण के चेतन भाग में, एक अपूर्णता के भाव का उदय होता हैं, और यह अपूर्णता स्त्रियों के प्रति आसक्ति के द्वारा अपनी पूर्ति चाहती है। उसी भाँति, स्त्री-शरीर धारण करने पर, जब आत्मा अपने को स्त्री समझने लगता है, तब उसके अंतःकरण की केवल स्त्री-प्रवृत्तियां ही, साधन की अनुकूलता के कारण, अभिव्यक्त हो पाती हैं, तथा पुरुष-प्रवृत्तियां अंतःकरण के अचेतन भाग में, प्रसुप्त तथा दबी रह जाती हैं। अतः उनके दब रहने या अभिव्यक्त न हो सकने के कारण, अंतःकरण के चेतन भाग में, एक अपूर्णता के भाव का जन्म होता है;

और यह अपूर्णता पुरुषों के प्रति आसक्ति के द्वारा, अपनी पूर्ति चाहती है। **स्त्री के अंतःकरण की दबी हुई पुरुष-प्रवृत्तियां, पुरुषों के प्रति आसक्ति के द्वारा, एक प्रकार की अभिव्यक्ति की खोज करती हैं, तथा पुरुष के अंतःकरण की दबी हुई स्त्री-प्रवृत्तियां, स्त्रियों के प्रति आसक्ति के द्वारा, अपनी एक प्रकार की अभिव्यक्ति खोजती हैं। इस दृष्टिकोण से, स्त्री और पुरुष का पारस्परिक आकर्षण अपने अंतःकरण के अचेतन भाग से युक्त होने के प्रयत्न का परिणाम है।**

असफल क्षति-पूर्ति।

शरीर के लिंग प्रकार (sex) से आत्मा के युक्त होने के कारण, अंतःकरण को जिस अधूरेपन का अनुभव होता है, उसकी पूर्ति के लिए, चेतन मन अज्ञान-पूर्वक जो प्रयत्न करता है, इस प्रयत्न की अभिव्यक्ति ही कामवासना है। किंतु, **अंतःकरण की आंशिकता को पूर्ण करने का यह प्रयत्न, आवश्यकतः निष्फल होकर रहेगा; क्योंकि चेतना एक तो अज्ञान-पूर्वक अपने को शरीर समझ लेती है, तथा विपरीत लिंग के शरीर को अपने से भिन्न समझ कर, और आसक्ति तथा अधिकार-वृत्ति के द्वारा, उससे बद्ध होकर, वह अपने देहभाव को और बढ़ा लेती है।**

जब, आत्मा कामवासना के त्याग के द्वारा, स्त्री-पुरुष भेद संबंधी द्वैत पर, विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, तो वह विपरीत लिंग-संबंधी अनुभव का ज्ञान, अपने अंतःकरण के अंदर प्राप्त करने के लिए, मार्ग तैयार करता है।

इस प्रकार, पुरुष-दृष्टि से स्त्री का ज्ञान प्राप्त नहीं करता है; किंतु स्त्री, अपने व्यक्तिगत जीवन में, जो कुछ अनुभव करती है, उसकी काल्पनिक अनुभूति के द्वारा। उसी प्रकार, स्त्री-पुरुष का ज्ञान, अपनी स्त्री दृष्टि से प्राप्त नहीं करती है; किंतु पुरुष, अपने व्यक्तिगत जीवन में जो कुछ अनुभव करता है, उसकी काल्पनिक अनुभूति के द्वारा। अतः असत्य सी मालूम पड़ने पर भी, बात सच है कि विपरीत लिंग के रूप पर आसक्ति, विपरीत लिंग से संबद्ध अनुभव का सच्चा ज्ञान प्राप्त करने में बाधक है; तथा **विपरीत लिंग के रूप से अनासक्त होने से, विपरीत लिंग से संबद्ध अनुभव का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना संभव है, क्योंकि अनासक्ति स्त्री-पुरुष-भेद-विमूढ़ कल्पना की बाधा को दूर कर देती है।**

अनासक्ति के द्वारा ज्ञान।

जब मनुष्य लिंग-द्वैत का अतिक्रमण करने का यत्न करता है, तथा विपरीत लिंग से संबद्ध अनुभव का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता है, तो वह विपरीत लिंग से प्रायः संबद्ध रहनेवाले मानसिक गुणों को यथार्थ में स्वयं कभी-कभी प्रकट करता है। कुछ पुरुष-साधक कभी कभी वस्तुतः स्त्रियों जैसे वस्त्र पहन लेते हैं, स्त्रियों के ही समान अनुभव करते हैं, तथा स्त्रियों के गुणों तथा आचरणों को स्वयं अपना लेते हैं। किंतु यह उनकी साधना की एक अस्थायी भावावस्था होती है। जब स्त्री के अनुभवों संबंधी उनका आंतरिक ज्ञान पूर्ण हो जाता है, तो न तो उन्हें केवल पुरुषत्व का अनुभव होता है, और न केवल

लिंग-विमूढ़ कल्पना से मुक्ति।

स्त्रीत्व का ही अनुभव होता है, किंतु **वे अपने को लिंग-भेद या स्त्री-पुरुष-भेद से परे अनुभव करते हैं।** स्त्री-पुरुष भेद का जो साधक अतिक्रमण कर चुकता है, उसे स्त्रीत्व तथा पुरुषत्व संबंधी **दोनों** प्रकार के अनुभव सुलभ तथा सुबोध्य हो जाते हैं, और वह दोनों द्वन्द्वों से अप्रभावित रहता है, क्योंकि **ज्ञान के द्वारा, वह लिंग विमूढ़ कल्पना के क्लेशजनक अनुभव से विमुक्त हो जाता है।**

चेतन तथा अचेतन मन की संधि।

मन जिस पूर्णता की खोज करता है, वह रूपों से तादात्म्य अनुभव करने तथा उन पर आसक्त होने से, कदापि प्राप्त नहीं हो सकता; उसे अंतःकरण के अंदर खोजने तथा मन की खोई हुई एकता पर अधिकार करने से ही, प्राप्त किया जा सकता है। **चेतन तथा अचेतन मन की संधि, लिंग-संबंधी आकर्षण तथा अन्य प्रकार की अधिकार-भावनाओं के द्वारा, असंभव है। शरीर तथा शरीर के लिंग से अतादात्म्य के ही द्वारा, ऐसी संधि संभव है।** आत्मा के अंतःकरण में, जो समग्र अनुभव संग्रहीत रहते हैं, उनकी संधि तथा एकता के मार्ग में, शरीर-तादात्म्य बाधा है। शरीर से अतादात्म्य अनुभव करने पर, यह बाधा दूर हो जाती है। लिंग-द्वैत तथा लिंग-भेद के द्वारा, देहात्म भाव का अज्ञान और भी घनीभूत हो जाता है। अतः लिंग-द्वैत तथा लिंग-भेद पर, विजय प्राप्त करने से ही, आंतरिक पूर्णता की उपलब्धि होती है।

विपरीत लिंग के प्रति आसक्ति से मुक्त होने का **अर्थ है, शरीर के लिंग के आधिपत्य से, आत्मा का मुक्त**

होना। तथा शरीर के लिंग के आधिपत्यों से मुक्त होने का अर्थ है, उन संस्कारों के अधिकांश भाग का नाश, जो आत्मा को, शरीर से मुक्त होने के लिए, बाध्य करते हैं। केवल लिंग-द्वैत का अतिक्रमण प्रकार करने से ही सभी प्रकार के द्वैत पर, विजय नहीं मिल जाती; किंतु लिंग-द्वैत का अतिक्रमण कर लेने से, अन्य सभी प्रकार के द्वैत पर, विजय प्राप्त करना, आसान हो जाता है। इसके विपरीत, यह भी उतना ही सच है, की **लिंग-द्वैत की समस्या द्वैत की मौलिक समस्या का ही एक अंग है; और लिंग-द्वैत की समस्या, पूर्णतः तभी सुलझती है, जब दिव्य प्रेम के द्वारा, समस्त द्वैत की विशद समस्या हल हो जाती है, उस दिव्य प्रेम के द्वारा, जिसमें न तो 'मैं' रहता 'और न तुम', जिसमें न स्त्री रहती और न पुरुष**। पुरुष तथा स्त्री जन्मों का वही प्रयोजन है, जो समस्त विकास-क्रम का प्रयोजन है, और वह प्रयोजन है, मनुष्य को अपनी स्वकीय अविभक्त तथा अविच्छेद्य सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने के योग्य बनाना।

दिव्य प्रेम।

पुनर्जन्म तथा कर्म

भाग ६ वा

लगातार जीवनों के द्वारा कर्म की क्रिया

एक ही जीवात्मा लगातार अनेक जन्म धारण करता है उन्नत आत्माओं को अपने अनेक जन्मों की जो स्मृति प्राप्त होती है, वह इस बात की सचाई का प्रमाण है। इसके अतिरिक्त, जीवात्मा के समस्त जन्म, कर्म के नियम के द्वारा

शासित होते हैं। **कर्म का नियम कार्य-कारण के नियम के द्वारा व्यक्त होता है।** जीवात्माओं के क्रम-बद्ध जीवन तथा उनकी विशेषताएं, एक पक्षपात-शून्य तथा अपवाद रहित एवं पूर्णतः विवेक—सम्मत सत्ता के द्वारा, निश्चित होती हैं। परिणामतः, जीवात्मा सही तथा बुद्धि-मत्ता पूर्ण कार्य के द्वारा, अपने भविष्य को रच सकता है। पूर्वजन्मों के कर्म वर्तमान की अवस्थाओं तथा परिस्थितियों को निर्दिष्ट करते हैं; तथा वर्तमान जीवन के कर्मों का भावी जीवनों की अवस्थाओं तथा परिस्थितियों को निर्दिष्ट करने में, हाथ रहता है। **कर्म के नियम के शासन के प्रकाश में ही, जीवात्मा के क्रम-बद्ध अनेक जन्मों का वास्तविक महत्त्व समझ में आता है।**

क्रम-बद्ध जन्म कर्म के नियम के द्वारा निश्चित होते हैं।

स्थूल जगत् में जो जन्म होते हैं, वे बाह्य दृष्टि से ही असंबद्ध तथा असंलग्न से प्रतीत होते हैं। **मानसिक शरीर के संचित कर्म एक जीवन तथा आगामी जीवन को जोड़नेवाली कड़ी का काम करते हैं। जीवात्मा, जब स्थूल शरीर त्याग देता है, तब स्थूल जीवन के कर्म मानसिक शरीर में संचित रहते हैं; इन्हीं कर्मों के वेग से, जीवात्मा दूसरा जन्म धारण करता है। इस प्रकार, जीवात्मा के समस्त जीवनों में, कर्मों की क्रिया निरंतर होती रहती है।** जब तक स्थूल शरीर तथा स्थूल जगत् को ही, एक मात्र सत्य माना जायगा, तब तक कर्म के नियम तथा इस नियम की क्रिया-विधि को

कारण शरीर के द्वारा, कर्म का सातत्य

पूर्णतः समझना असंभव है। सूक्ष्म तथा मानसिक शरीरों, तथा सूक्ष्म और मानसिक संसारों के अस्तित्व के ही द्वारा, कार्मिक शासन पूर्णतः समझा जा सकता है।

कारण तथा सूक्ष्म शरीर।

स्थूल जगत् की भूमिका में, भौतिक चेतना प्राप्त होती है, सूक्ष्म जगत् की भूमिका में, इच्छाओं की चेतना प्राप्त होती है; तथा मानसिक जगत् की भूमिका में, जीवात्मा को मानसिक चेतना प्राप्त होती हैं। मन से इच्छाओं की उत्पत्ति हैं, तथा मन का अस्तित्व मानसिक भूमिका में हैं। इच्छा का बीज, मन में दबा रहता है। जिस प्रकार, वृक्ष बीज के भीतर प्रसुप्तावस्था में रहता है, उसी प्रकार, इच्छा मन में प्रसुप्त रहती है। मानसिक शरीर मन का निवास-स्थान है। मानसिक शरीर को कोई कोई कारण-शरीर भी कहते हैं; क्योंकि **उसमें, इच्छाओं के कारण या बीज संग्रहीत रहते हैं।** मन समस्त संस्कारों तथा प्रवृत्तियों को, प्रसुप्त रूप में, सुरक्षित रखता है। सीमित 'मैं' अर्थात् अहंकार, इन संस्कारों से ही निर्मित होता है। किंतु, संस्कारों की वास्तविक अभिव्यक्ति, मानसिक क्रियाओं के द्वारा, सूक्ष्म शरीर में होती है।

अहं-चित्त (ego-mind) का सृजन तथा उसकी निरंतरता

आत्मा वस्तुतः एक तथा अविभाज्य है। वह मानसिक शरीर (mental body) की सीमाओं के द्वारा, व्यक्तियों में विभक्त हुआ, दिखाई देता है। यह मानसिक शरीर अहं-चित्त (ego-mind) का निवास-स्थान है। अहं-चित्त पूर्व-जन्मों के अनुभवों, तथा कार्यों के संचित संस्कारों से निर्मित होता है। अहं-चित्त ही जन्म लेनेवाले,

जीवात्मा का गुप्त बीज होता है। सुप्त संस्कारों का संग्रहालय, अहं-चित्त मानसिक शरीर की [illegible] है। अहं-चित्त का तीव्रीभूत एवं अभिव्यक्त संस्कारों का अनुभव करना सूक्ष्म शरीर की अवस्था है; तथा अहं-चित्त का, उत्पादक कार्य करने के लिये, स्थूल क्षेत्र में उतरना भौतिक जीवन की अवस्था है। **अतः, मानसिक शरीर में स्थित अहंचित्त, पृथक व्यक्ति** (Separate Individual) **की हैसियत में अनवरत जीवन की सभी अवस्थाओं में प्रकट होता रहता है।**

अहं-चित्त पर संचित संस्कार जन्म की विशिष्ट अवस्थाओं को निश्चित करते हैं।

मानसिक शरीर में स्थित अहम्-चित्त, अपने संचित संस्कारों के अनुसार, निम्नतर शरीर धारण करता है। मनुष्य बचपन में मरेगा या वृद्धावस्था में मरेगा वह निरोग रहेगा या रोग-ग्रस्त रहेगा, या वह निरोग तथा रोगी दोनों रहेगा वह रूपवान होगा अथवा कुरूप होगा, वह स्वथ होगा या अपाहिज, उसकी बुद्धि मंद होगी या तीक्ष्ण, उसका हृदय शुद्ध होगा या अशुद्ध, उसका संकल्प चंचल होगा या दृढ़, वह भौतिक सुख-समृद्धि में रमा होगा या वह आध्यात्मिक प्रकाश की खोज करेगा,—ये सब बातें अहम्-चित्त पर संचित संस्कारों पर निर्भर रहती हैं; अर्थात ये बातें अहम्-चित्त के संचित संस्कारों के द्वारा निर्णीत होती हैं।

यथाक्रम, अहम्-चित्त कर्म-द्वारा संचित संस्कारों के द्वारा, संशोधित तथा रूपान्तरित हो जाता है। "कर्म" में, शारीरिक कर्म ही नहीं, किंतु विचार तथा भाव भी शामिल हैं। **अहम्-चित्त**

द्वैत का खेल

की रूप-रेखा तथा आवश्यकता पर, उसके प्रत्येक जन्म की परिस्थितियां अवलंबित रहती हैं। यदि एक जन्म में, मनुष्य कोई विशिष्ट योग्यताएं या प्रवृत्तियां विकसित भर कर लेता है, तो वह आनुक्रमिक जन्मों में भी, उन योग्यताओं तथा प्रवृत्तियों को अपने साथ ले जाता है। तथा एक जन्म में, जो कार्य अधूरे रह जाते हैं, वे कार्य आगामी जन्म में पूरे किये जाते हैं। संस्कारों की निरंतरता के कारण, एक जन्म में जो कार्मिक संबंध स्थिर कर लिये जाते हैं, वे दूसरे जन्मों में भी साथ-साथ जाते हैं, तथा विकसित होते हैं। **जो मनुष्य एक जन्म में, अपने अच्छे या बुरे व्यवहारों के कारण, एक दूसरे से संबद्ध हो जाते हैं, वे आनुक्रमिक जन्मों में भी, एक दूसरे से संबद्ध होकर, द्वैत का खेल खेलते हैं।** इस प्रकार, जीवात्मा द्वैत तथा द्वन्द्वों का इतना अधिक अनुभव प्राप्त कर लेता है, कि उसका अनुभव परिपक्व हो जाता है। अनुभव के परिपक्व होने पर, जीवात्मा अहं-चित्त का परित्याग करने के लिये, तैयार हो जाता है; तथा अपने ईश्वरत्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए, वह अंतर्मुख हो जाता है।

आदान-प्रदान के द्वारा अधिकार तथा प्रति-अधिकार की सृष्टि।

मनुष्यों के बीच में, जब पारस्परिक लेन-देन हुआ करता है, तो उनके बीच कार्मिक तथा सांस्कारिक बंधनों तथा अधिकार-प्रत्यधिकार की सृष्टि होती है। इन अधिकारों-प्रत्यधिकारों की पूर्ति के लिए, उनके बीच में, फिर से आदान प्रदान का प्रारम्भ होता है। **मनुष्य स्वार्थ-भाव से जो देता है, वह उसे बांधता है, तथा**

वह स्वार्थ-भाव से जो लेता है, वह भी उसे बांधता है। एक-दूसरे को बांधनेवाले या एक दूसरे को संबद्ध करनेवाले ये आदान-प्रदान केवल भौतिक आदान-प्रदान नहीं हुआ करते, जैसे सामान, पैसा तथा शारीरिक कार्यों का लेन-देन। ऐसे आदान-प्रदान के भीतर, भावों और विचारों के आदान-प्रदान भी सम्मिलित हैं।

हस्तक्षेप विषयक कर्म।

उच्च भूमिकाओं में स्थित एक संत को जब कोई मनुष्य सम्मान देता है, तो वह अपने प्रति तथा उसके विरुद्ध संबंध स्थापित कर लेता है। फलतः आंतरिक भूमिकाओं को पार करके साधना-पथपर आगे बढ़ते रहने पर भी, संतों को रुकना पड़ता है, तथा सम्मान प्रदान करनेवाले मनुष्य को ऐसी सहायता देना पड़ता है, जिसके बल पर, वह साधना-पथ में वहाँ पहुँच जाय, जहाँ संत स्वय पहुँच चुका है। संत को सम्मान देना **हस्तक्षेप विषयक कर्म करना है**। प्राप्त करने में, यद्यपि सम्मान एक अच्छी चीज है, किंतु सम्मान प्राप्त करने पर, संत को साधन-पथ में तब तक ठहरना पड़ता है, जब तक वह सम्मान करनेवाले मनुष्य को उचित सहायता नहीं पहुँचा चुकता।

आत्माओं की प्रयुत्तरक्षमता।

आत्माओं की शीघ्र तथा अचूक **प्रत्युत्तर** क्षमता (responsiveness), इस नियम में अभिव्यक्त होती है, कि घृणा उत्पन्न करती है, वासना वासना उत्पन्न करती है, तथा प्रेम प्रेम उत्पन्न करता है। यह नियम केवल एक जीवन-काल में हि कार्य नहीं करता, किंतु **अनेक जीवनों में कार्य**

करता है। मनुष्य, आप ही आप, मानों स्वभावतः, पूर्व जीवन के किसी शत्रु को डरने तथा घृणा करने के लिये, प्रेरित होता हैं, यद्यपि वर्तमान जीवन में, उस मनुष्य से डरने या उससे घृणा करने का, उसके लिये, कोई कारण नहीं रहता। इसी प्रकार, मनुष्य वर्तमान जीवन जन्य किसी बाह्य कारण के बिना पूर्व जीवन के किसी मित्र को, प्रेम करने तथा उसे सहायता पहुँचाने के लिए, आप ही आप प्रेरित होता है। अधिकांश मनुष्य, अपने इस प्रेरणा-प्रदत्त तथा समझ में न आनेवाले बर्ताव तथा व्यवहार का कारण नहीं जानते; किंतु, इसका यह अर्थ नहीं है, कि उनके बर्ताव तथा व्यवहार कारण-शून्य होते हैं। बाह्य सतह पर समझ में न आनेवाली अनेक बातें, पूर्व जन्मों से चले आनेवाले कार्मिक संबंधों के प्रकाश में, समझ में आती हैं।

कर्म का नियम क्रिया एवं प्रतिक्रिया का नियम है।

कर्म का नियम वह नियम है, जो एक ही संसार में रहनेवाले, तथा आत्माभिव्यक्ति की खोज करनेवाले अनेक जीवात्माओं के पारस्परिक संबंधों को निरंतर परिवर्तित करता रहता है। कर्म का नियम अहम्-चित्तों की पारस्परिक प्रत्युत्तरक्षमता (responsiveness) का **परिणाम है**. जिस ताल पर, दो आत्मा अपने संबध आरंभ करते हैं, वह ताल अपने को तब तक स्थायी रखने का यत्न करता हैं, जब तक नये विवेक-युक्त कर्म के द्वारा, आत्मा निम्नतर ताल को उच्चतर ताल में परिवर्तित नहीं कर देता है।

नियमानुसार, संचित कर्म की अपनी निजी जड़ता (inertia) होती है; कोई विशेष कारण के बिना, वह अपनी गति को परिवर्तित नहीं करता है। **कर्म के सृजन के पूर्व, व्यक्ति को यह स्वतंत्रता रहती है, कि वह अपना कर्म एक चुन ले; किंतु कर्म एक ऐसे महत्वपूर्ण तत्व का रूप धारण कर लेता है, कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कृत या संचित कर्मों के परिणामों को या तो भोगना पड़ता है, अथवा नवीन तथा उचित कर्मों के द्वारा, उन कर्मों का निराकरण करना पड़ता है।**

कर्म की स्वतंत्रता

पार्थिव जीवन के सुख तथा दुख, सफलता तथा निष्फलता, उपलब्धियां तथा बाधाएं, मित्र तथा शत्रु—सभी पूर्व जन्मों क कर्मों के द्वारा निश्चित होते हैं। **कार्मिक निर्णय को ही प्रायः भाग्य या किस्मत (fate) के नाम से संबोधित किया जाता है।** भाग्य कोई बाहरी तथा अत्याचारी सिद्धान्त नहीं है। **भाग्य मनुष्य की स्वतः की ही कृति हैं, जो पिछले जन्म मे उसका पीछा करती है।** जिस भाँति, पूर्व कर्म से भाग्य निर्मित होता है, उसी प्रकार, वर्तमान जीवन के कर्म से, यह संशोधित, परिवर्तित, तथा अन्यथा-कृत भी हो सकता है।

किस्मत।

यदि पार्थिव जीवन में किये जानेवाले कर्म का गुणधर्म, अहम्-चित्त में संचित संस्कारों के द्वारा, निर्दिष्ट होता है, तो अहम्-चित्त में संचित संस्कार, भी यथाक्रम, पार्थिव जीवन में

किये जानेवाले कर्म के गुणधर्म के द्वारा, निश्चित होते हैं। अहम्-चित्त के संस्कार तथा कर्म का गुण-धर्म परस्पराश्रित है। पृथ्वी पर किया गया कर्म, विशेष रूप से, अहम्-चित्त के संस्कारों का सृजन तथा पुनः सृजन करता है; तथा उसे वह वेग प्रदान करता है, जो व्यक्ति के भावी भाग्य का निर्णय करता है। **पार्थिव जीवन के संग्राम क्षेत्र में ही, स्थूल-शरीर के द्वारा, रचनात्मक (creative) तथा फलोत्पादक कार्य करना संभव है।**

रचनात्मक कर्म भौतिक शरीर में ही संभव है।

कर्म के नियम के वास्तविक ज्ञान के द्वारा, तथा उसके सदुपयोग के द्वारा, मनुष्य विवेक-युक्त तथा बुद्धिमत्ता पूर्ण कार्य करके, स्वयं **अपने भाग्य का विधाता** बन सकता है। मनुष्य आज जो कुछ बना, वह अपने संचित कर्मों के ही द्वारा बना है, और वह अपने कर्मों के ही द्वारा, अपने आपको अपने हृदय के आदर्श के अनुसार मोड़ तथा गढ़ सकता है। इस प्रकार, वह जीवन तथा मृत्यु पर शासन करनेवाले कार्मिक नियम के प्रभुत्व से, अपने आपको मुक्त कर सकता है।

भाग्यविधाता बनना।

मोटे हिसाब में, कर्म दो प्रकार का है:— बाँधनेवाला कर्म; तथा आत्मानुभूति तथा मुक्ति में सहायक कर्म। अहम्-चित्त से उत्पन्न तथा पोषित होनेवाला बुरा कर्म भी बाँधता है, तथा अच्छा कर्म भी। **जब कर्म सही ज्ञान से किया जाता है; तो वह मुक्ति देनेवाली शक्ति बन जाता है।** इस विषय का

बंधविमोचक कर्म

उपयुक्त ज्ञान, उन गुरुओं के द्वारा, प्राप्त होता है। जो आत्मा के स्वभाव, उसके भाग्य, तथा कार्मिक नियम द्वारा, उत्पन्न उसकी विपत्तियों को ठीकठीक जानते हैं।

महत्वपूर्ण कर्म का आरंभ तब होता है, जब मनुष्य में अच्छे और बुरे के बीच, भेदभाव उत्पन्न हो जाता है। बाल्यकाल के प्रथम सात वर्षों में संस्कार अत्यंत धुंधले होते हैं। इन धुंधले संस्कारों से प्राप्त होनेवाली संसार-संबंधी चेतना मे, सांसारिक भेदभाव के प्रति बहुत कम ग्रहणशीलता होती हैं। अतः, सात साल से छोटे बच्चों के कार्य, अहं-चित्त पर, कोई प्रबल तथा प्रभावोत्पादक संस्कार चिह्नित नहीं करते; और न उन संस्कारों का, उनके भविष्य-निर्माण में, कोई हाथ ही रहता है। **जब जीवात्मा में, उत्तरदायित्व का भाव विकसित हो जाता है। तभी उसके द्वारा, वह असली प्रभावोत्पादक कर्म होता है, जो अहं-चित्त का तथा उसके भावी जीवन का दिशा निर्देश करता है।** उत्तरदायित्व का यह भाव, **अच्छे और बुरे के भेदभाव** पर अवलंबित रहता है। बचपन के कुछ वर्षों के बीत जाने पर, अच्छे और बुरे का भेदभाव उत्पन्न होता है।

अच्छे और बुरे के भेदभाव से कर्म का प्रारंभ होता है।

मूल्यों के संसार में कार्य करनेवाले कर्म का नियम, भौतिक संसार में कार्य करनेवाले **कार्य-कारण के नियम** Law Of Cause And Effect) **का ही प्रति-रूप** Counterpart) है, यदि भौतिक संसार में, कार्य-कारण

का नियम न रहे, तो अंधेर मच जाय; और लोगों को यह ज्ञात न रहे कि किस वस्तु के पश्चात् कौनसी वस्तु आयगी। इस प्रकार, मूल्यों कि संसार में, यदि कर्म का नियम न रहे, तो परिणामों की नितान्त अनिश्चितता हो जाय; और लोग यह न जान सकेंगे, कि उनके कर्म का अच्छा परिणाम निकलेगा या बुरा परिणाम। भौतिक घटनाओं के जगत् में, **शक्ती की सुरक्षा** (Conservation Of Energy) का नियम काम करता है, जिसके अनुसार कोई भी शक्ति शून्य को प्राप्त नहीं होती; तथा आध्यात्मिक संसार में; यह नियम काम करता है, **कि एक बार यदि कर्म किया जाता है, तो वह चुपचाप अंतर्हित नहीं हो जाता, किंतु उसका परिणाम अवश्य ही उत्पन्न होता है। कर्म तब तक अनवरत रूप से विद्यमान रहता है, जब तक उसका फल उत्पन्न हो जाय, अथवा जब तक, विरुद्ध कर्म के द्वारा, उसको अन्यथा न कर दिया जाय।** अच्छे कर्मों के अच्छे परिणाम उत्पन्न होते हैं: तथा बुरे कर्मों के बुरे परिणाम।

कार्य-कारण के नियम से तुलना।

आध्यात्मिक जगत् में, कारण तथा परिणाम के बीच व्यवस्थित संबंध के द्वारा, संसार की नैतिक व्यवस्था कायम है। यदि कर्म के नियम में, कोई शिथिलता, प्रतिकूलता अथवा अपवाद रहते, तथा मूल्यों के जगत् पर, वह पूर्ण रूप से लागू नहीं होता, तो संसार में कोई नैतिक व्यवस्था नहीं रहती। यदि

कर्म का नियम संसार की नैतिक व्यवस्था को स्थिर रखता है।

संसार में कोई नैतिक व्यवस्था न रहे, तो मनुष्य-जीवन मूल्यसंपादन के दृष्टिकोण से, संदिग्ध हो जाय। नैतिक-व्यवस्था-शून्य संसार में, मानवीय प्रयत्न, स्थायी रूप से, शंका-पीड़ित तथा अनिश्चय-युक्त होता। **यदि साधनों तथा साध्यों के बीच, कोई निश्चित संबंध न रहे, तथा कर्म का नियम संसार की प्राप्ति के लिये, कोई गंभीर उद्योग ही न करे।** कर्म के नियम की कठोरता यथार्थ कर्म करने की एक शर्त है। यदि कर्म के नियम की उपेक्षा, अवहेलन तथा उल्लंघन कर सकना संभव होता, तो मनुष्य के लिये, महत्वपूर्ण कर्म करना असंभव हो जाता।

कर्म का नियम, प्रकृति के अन्य नियमों के अनुसार ही अनुल्लंघनीय है। **कर्म के नियम की कठोरता से, आत्मा, को यह अनुभव नहीं होता, कि कर्म का नियम किसी बाह्य तथा अंध शक्ति का अत्याचार है। आत्मा को यह मालूम होता है, कि कर्म का नियम विवेक सम्मत जीवन की व्यवस्था के लिये, आवश्यक है। कर्म का नियम सच्चे उत्तरदायित्व की शर्त है। कर्म के नियम का मतलब यह है, कि मनुष्य जैसा बोता है, वैसा ही वह काटता है।** मनुष्य जो कुछ भी अनुभव करता है, उसका संबंध उसके कर्म से रहता है।

कर्म तथा उत्तर-दायित्व।

यदि मनुष्य ने किसी के साथ कोई बुरा व्यवहार किया है, तो वह उसकी सजा जरूर पावेगा, तथा **उसका बुरा कार्य लौट कर उसे ही कष्ट पहुँचावेगा।** और यदि उसने

कर्म का नियम न्याय की अभिव्यक्ति है।

किसी के साथ अच्छा बर्ताव किया है, तो उसे उसका पुरस्कार अवश्य प्राप्त होगा; तथा **उसका अच्छा कार्य लौट कर उसे ही सुख पहुँचावेगा। वह औरों के लिये जो करता है, अपने लिए भी वही करता है, यद्यपि इस बात की सचाई को समझने में उसे देर लग सकती है। कर्म का नियम न्याय की अभिव्यक्ति, अथवा द्वैत के संसार में एकता का प्रतिबिंब है।**

———

पुनर्जन्म तथा कर्म

भाग ७

पुनर्जात व्यक्ति की भवितव्यता

कार्मिक नियति के अनुसार, जीवात्मा जो अनेक जन्म धारण करता है, उसकी संख्या की कोई सीमा नहीं है। असंख्य जन्म लेकर, साधक असंख्य मनुष्यों से संबद्ध होता है; और उनसे पारस्परिक लेन-देन का व्यवहार करता है। अनेकों मनुष्यों से, मानो उसे दिया हुआ ऋण वसूल करना होता है; तथा अनेकों मनुष्यों से उसे लिया हुआ ऋण अदा करना पड़ता है। कर्म के नियम के अनुसार, **वह ऋण वसूल करने तथा ऋण अदा करने से बच नहीं सकता; क्योंकि ऋण का यह लेन-देन उसके कर्म का परिणाम होता है, तथा उसका कर्म उसकी इच्छाओं से प्रेरित होता है।** दिये हुए ऋण

कार्मिक लेन-देन

को वसूल करने तथा लिये हुए ऋण को चुकाने के लिये, उसे बार बार जन्म लेना पड़ता है; और इस लेन-देन को चुकता करने में, अपने आपको वह असमर्थ पाता है।

ऋणों के लेन-देन से छुटकारा पाने में कठिनाई।

एक मनुष्य जिन मनुष्यों से कार्मिक ऋणों का लेन-देन करता है, वे सबके सब उसके एक ही जन्म में, उपस्थित नहीं रहते; इस कारण, तथा अपनी परिस्थितियों से सीमा बद्ध होने के कारण, वह उन सबसे मिल सकने में, तथा उनसे अपने लेन-देन चुकता करने में असमर्थ रहता है। अपने पूर्व जन्म के संबंधियों से, जब वह अपना लेन-देन चुकता करने का यत्न करता है, तो इस प्रयत्न के ही द्वारा, वह उनसे नवीन अधिकार तथा प्रत्याधिकार की सृष्टि करता ही रहता है; और जिन नये मनुष्यों के संपर्क में वह आता है, उनसे भी नया लेन-देन करने के लिये, मजबूर होता है। इस भाँति, नाना आकार-प्रकार के लेन-देन में वह उलझ जाता है। **इस भाँति, वह अपने लेन-देन की संख्यातीत वृद्धि करता चला जाता है, तथा विषम कार्मिक बंधनों में बंध जाता है।**

कार्मिक ऋणों से मुक्त होने में, गुरु सहायक होता है।

गुरु की सहायता से कार्मिक बंधनों से छूटने की सुविधा यदि न हो ी, तो कर्म-जन्य ऋणों के लेन-देन की क्रिया का कहीं अंत ही नहीं होता। गुरु साधक को बंधन-रहित कर्म करने की कला तो सिखाता ही है, किंतु साथ, वह कार्मिक बंधनों से साधक को मुक्त भी सहायक होता है। **गुरु परमेश्वर से युक्त हो गया रहता**

है। सभी मनुष्य उसके समष्टि-गत सार्वलौकिक चेतना के अंतर्गत रहते हैं। अतः, वह समस्त जीवन के प्रतिनिधि की हैसियत से, अनेक जन्मों में, असंख्य मनुष्यों के साथ किये गये व्यवहार तथा संबंध से उत्पन्न समस्त कार्मिक ऋण बंधनों से, मुक्त होने का साधन बन जाता है। यदि मनुष्य का किसी से बद्ध होना, आवश्यक ही हो, तो ईश्वर अथवा गुरु से उसका बद्ध होना, उसके लिये परम कल्याण-प्रद हैं; क्योंकि यह बंधन, अन्य तमाम कार्मिक बंधनों से मुक्त होने में, सहायक होता है।

गुरु और शिष्य का संबंध कई जन्मों तक जारी रहता है।

यदि पूर्वजन्मों के अच्छे कर्म के फल-स्वरुप, साधक को गुरु पाने का सौभाग्य प्राप्त हो, तो उसके लिये, सर्वोत्तम कर्तव्य यह है, कि वह गुरु को आत्म-समर्पण कर दे, तथा उसकी सेवा करे। आत्मसमर्पण करके, साधक अपने कर्म का बोझ गुरु पर डाल देता है; तथा गुरु को उसे उस बोझ से मुक्त करने के मार्ग तथा उपाय सोचना पडता है। गुरुसेवा के द्वारा, साधक को अपने कार्मिक बंधनों से मुक्त होने का अवसर प्राप्त होता है। गुरु और शिष्य का संबंध एक ऐसा संबंध हैं, जो कोई जन्मों तक साथ-साथ चलता है। यदि गुरु अपने शिष्य समूह का एक जन्म में पथ-प्रदर्शन करता है, और इस प्रकार उनकी सहायता करता है, तो जब वह अपने लोक-हितार्थ कार्य के लिये फिर जन्म लेता है, तब वह बहुधा अपने उसी शिष्य-समूह को फिर अपने साथ लाता हैं, तथा साधना-पथ में उन्हें और आगे बढ़ाता है। जो शिष्य पिछले जन्म में उससे संबद्ध रहते हैं,

वे अज्ञात भाव से, उसकी ओर प्रबल आकर्षण का अनुभव करते हैं, तथा उसकी ओर उसी प्रकार अनायास खिंचते हैं, जिस प्रकार चुंबक की ओर लोहा खिंचता है। वे यह नहीं समझ पाते, कि वे क्यों उसकी ओर खिंच रहे हैं। किंतु शिष्यों की इस न समझने योग्य भक्ति के पीछे, बहुधा एक लम्बा इतिहास छिपा रहता है; और शिष्य बहुधा अपनी साधना उस स्थान से पुनः आरंभ करता है, जिस स्थान में, वह पूर्वजन्म में अपनी साधना छोड़ गया रहता है।

गुरु के अनुग्रह को निमंत्रित करना।

जब शिष्य गुरु का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है, तथा उसका अनुग्रह अपने प्रति निमंत्रित करता है, तो वह निष्कारण ही ऐसा नहीं करता। कभी कभी, शिष्य के कोई बाह्य प्रयत्न या बलिदान किये बिना ही, गुरु उसे आध्यात्मिकता प्रदान करता दिखाई देता है। किंतु, उसके ऐसा करने का भी कारण रहता है। जो शिष्य इस प्रकार, गुरु की कृपा का पात्र होता है, वह अपने पूर्व संबंध, बलिदान तथा साधना के द्वारा, गुरु का अनुग्रह प्राप्त करने का अधिकार रच चुका रहता है। पूर्व जन्मों में, गुरु के प्रति शिष्य के द्वारा, अनुभूत तथा प्रदर्शित प्रेम या भक्ति, वर्तमान जन्म में, गुरु और शिष्य के बीच के गंभीर संबंध के लिये, उत्तरदायी होती है। परिणामतः, **शिष्य में आध्यात्मिक आकांक्षा का जागृत होना, गुरु से उसे प्राप्त होनेवाली सहायता तथा अनुकंपा का परिणाम होता है।** पूर्व जन्म-कृत अपने निष्काम तथा आसक्तिरहित कर्म के द्वारा, शिष्य उसका पात्र होता है। शिष्य गुरु के अनुग्रह को अपने

प्रति निमंत्रित करता है, ठीक वैसे ही, जैसे पूर्व जन्म-कृत अपने बंधनकारक कर्म के द्वारा, वह अपने प्रति सुख-दुख तथा अच्छाई बुराई को निमंत्रित करता और उनका शिकार होता है।

नियमानुसार, साधना-पथ में प्रविष्ट साधक, क्रमशः तब तक उन्नति करता चला जाता है, जब तक वह लक्ष्य को प्राप्त नहीं होता। किंतु, यह बात उन लोगों पर लागू नहीं होती, जो निश्चित रुप से साधना-पथ में प्रविष्ट नहीं होते, या जिनका पथप्रदर्शक गुरु नहीं होता। ऐसे लोग, अपने अव्यवस्थित तथा अस्त व्यस्त प्रयत्नों के कारण, बंधनकारक संस्कारों का समूह उत्पन्न करके, लक्ष्य से और भी दूर हो जाते हैं। अतएव, आध्यात्मिक उन्नति को स्वतः सिद्ध होनेवाली उन्नति समझना भूल हैं, क्योंकि आध्यात्मिक उन्नति तब तक नहीं होती, जब तक साधक उसके लिये सक्रिय उद्योग न करे।

आध्यात्मिक उन्नति के लिये, सक्रिय उद्योग की आवश्यकता।

शीघ्र ही, या बाद में, अनेक जन्मों में संचित अनुभवों का तर्क (The logic of experience) प्रत्येक मनुष्य को सर्वोच्च लक्ष्य की ओर अभिमुख होने के लिए बाध्य करता है; और उसे साधना-पथ में प्रविष्ट होना पड़ता है। एक बार जब वह साधना-पाथ में प्रविष्ट हो जाता है, फिर वह स्थिर गति से प्रायः उन्नति करता चला जाता है। पथ पर, ज्यों-ज्यों वह अग्रसर होता चला जाता है, त्यों-त्यों बहुधा उसे ऐसी गुप्त शक्तिय

अधःपतन का खतरा।

प्राप्त होती हैं, जिनकी सहायता से, वह न केवल सूक्ष्म तथा मानसिक अंतर्जगत् का ज्ञानपूर्वक अनुभव कर सकता है, किंतु वह उच्च भूमिकाओं पर प्राप्य शक्तियों का संचालन तथा शासन कर सकता है। प्रथम दो भूमिकाएं जानने योग्य नहीं है; अनेकों ऐसे मनुष्य हैं, जो किसी न किसी जन्म में, इन भूमिकाओं पर किंतु **प्रथम दो भूमिकाओं को पार कर लेने पर भी, अवश्यतः निश्चित तथा स्थिर उन्नति होने लगती है, यह बात नहीं हैं।**

योग-भ्रष्ट

प्रथम कुछ भूमिकाओं में पहुँचने के बाद, ईश्वर की ओर उन्नति होने के बदले, घोर अधःपतन होने की संभावना रहती है। उच्चतर भूमिकाओं में पहुँचे हुए उन साधकों के असाधारण उदाहरण भी पाये जाते हैं, जो अज्ञान-युक्त कर्म के द्वारा, इतने गहरे गर्त में गिर जाते हैं, कि वहां से उठकर, अपने प्राथमिक उन्नति-बिंदु तक पहुंचने में, उन्हें कई युग लग जाते हैं। जिस साधक का ऐसा अधःपतन होता है, वह योग-भ्रष्ट कहलाता है। **कर्म का नियम ऐसा अपवाद-रहित, पक्षपात विहीन, तथा दया-क्षमा शून्य है, कि योगियों को भी उसके कठोर शासन का शिकार होना पड़ता है।** जब साधक को सिद्ध गुरु के पथ-प्रदर्शन की सुविधा रहती है, तभी आध्यात्मिक यात्रा सुरक्षित, निष्कंटक तथा आपत्ति-रहित होती है; और तभी अधःपतन या भ्रष्टता की संभावना नहीं रहती। गुरु, ऐसे अज्ञानयुक्त कर्म से, उसकी रक्षा करता है, जिसमें यदि गुरु न रहता तो वह फँस जाता।

अनेक जन्मों में साधना-पथ यात्रा करते रहने के पश्चात्, साधक अपने लक्ष्य स्थान में पहुँचता है। **ईश्वरानुभूति प्राप्त करने में सफल होने की शर्त यह है, कि साधक को शताब्दियों तक लगातार बलिदान, सेवा आत्म-शुद्धि तथा दृढ़ अनुसंधान के लिये, कृत संकल्प तथा तैयार रहना चाहिये।** ईश्वरानुभूति बारंबार जन्म लेनेवाले व्यक्ति का अंतिम लक्ष्य है; किंतु एक ही जन्म के परिणामस्वरूप, उसकी प्राप्ति नहीं हो जाती। कई जन्मों तक, लगातार प्रयत्न करते रहने के परिणामस्वरूप ही, किसी व्यक्ति को ईश्वरानुभूति की प्राप्ति होती है। अनेक जन्मों के अज्ञान-युक्त कर्म के द्वारा, जीवात्मा के बंधनों सृष्टि की होती है; और ये बंधन तभी छिन्न हो सकते हैं, जब अनेक जन्मों तक निरंतर ज्ञान-युक्त तथा बंधनशून्य कर्म किया जाय।

इच्छा पुनर्जन्मों का कारण है

पृथक् सत्ता की पिपासा ही वह शक्ति है, जीवात्मा को जन्म-मरण के चक्र से बांध कर रखती है। पृथक् सत्ता द्वैत जगत् के विषयों और भोगों की नाना इच्छाओं को उत्पन्न करती है। **इच्छाओं की तृप्ति ही के लिये, अहम्-चित्त बारंबार जन्म है।** जब सब प्रकार की इच्छाओं का लोप हो जाता है, तब अहम्-वृत्ति को उत्पन्न करनेवाले तथा उसका पोषण करनेवाले संस्कारों का नाश होता है। संस्कारों के नष्ट होते ही, अहं-चित्त का भी विसर्जन हो जाता है। परिणामतः, नित्य, अनन्त, अद्वितीय, परम सत्य परमात्मा की अनुभूति प्राप्त होती है। **ईश्वरानुभूति अहं-चित्त के अस्तित्व का ही अंत है।** जब तक अहं-चित्त का किसी न

किसी रुप में अस्तित्व रहता है, तब तक धारण करने की अनिवार्य तथा अदम्य प्रेरणा बनी रहती है। **ज्योंही अहं-चित्त की संपूर्णतः समाप्त हो जाती है, त्योंही आत्मानुभूति की प्राप्ति तथा जन्मों की समाप्ति हो जाती है।**

बारबार जन्म लेनेवाले व्यक्ति का जीवन अनेक घटनाओं तथा अवस्थाओं में से व्यतीत होता है। जीवन का पहिया, अविराम गति से, चक्कर लगाता चला जाता है। कभी वह व्यक्ति को ऊँचाई पर लाता है, तो कभी वह उसे उच्च पद से नीचे गिराता है। इस भाँति, मनुष्य को कभी ऊँचा उठाते और कभी नीचे गिराते हुए, वह उसके अनुभव की वृद्धि करता जाता है। जो आदर्श एक जीवन में अधूरा रह जाता है, वह दूसरे जीवन में, पूरा किया जाता है। एक जीवन में जो कार्य अधूरा पड़ा रह जाता है, वह दूसरे जीवन में पूरा किया जाता है। एक जन्म में, जो इच्छाएं अतृप्त रह जातीं है, वे दूसरे जन्म में, तृप्त की जातीं हैं। एक जन्म की गलतियां को दूसरे जन्म में सुधारा जाता है। मनुष्यों के बीच, एक जन्म में लेन-देन का जो हिसाब बनता है, दूसरे जन्म में लिये हुए ऋण को अदा किया जाता है, तथा दिये हुए ऋण को वसूल किया जाता है, या फिर लेन-देन का नया हिसाब चालू किया जाता है। **इस प्रकार, अंत में जब अनुभव परिपक्व हो जाता हैं, तो फिर आत्मा अहं-चित्त को छिन्न भूल करके, दिव्य जीवन की एकमात्र एकता में प्रविष्ट होता है। इस दिव्य जीवन में प्रविष्ट हो जाने के पश्चात्, न तो**

जन्मों की भवितव्यता।

लेने का बंधन रह जाता है, और न देने का, क्योंकि आत्मा द्वैतभाव या पृथक् सत्ता का परित्याग करके, द्वन्द्व से परे हो जाता है।

जीवात्मा के अनवरत जीवन-नाटक के अनेक खेल होते हैं। जीवात्मा के पार्थिव अस्तित्व के दृष्टिकोण से, यह कहा जा सकता है, कि प्रत्येक खेल के समाप्त होने के पश्चात्, यवनिका पात हो जाता है। किंतु, उसके एक खेल को ही स्वयं-संपूर्ण समझने पर, उसका पूरा आशय नहीं समझा जा सकता। उस खेल को पूर्ववर्ती खेल तथा परवर्ती खेल से संबद्ध करने पर ही, नाटक का पूरा अर्थ और महत्व समझ में आ सकता है। एक खेल तो पूरे नाटक का एक भाग मात्र होता है, जिसका अर्थ संपूर्ण नाट्य–विषय से गुफित रहता है। एक खेल की समाप्ति विकास-शील नाट्य-विषय की समाप्ति नहीं है। **संसार के रंगमंच से, नटगण नये प्रसंगों में, तथा नई हैसियत से, पुनः उपस्थित होने के लिए ही, आंखों से ओझल होते हैं।**

नाटक का सादृश्य।

अभिनेता गण, अपने-अपने अभिनय में, ऐसे डूबे हुए रहते हैं, कि वे अपने एक अभिनय को ही समूचे जीवन-नाटक का आदि और अंत समझ बैठते है, और अपने अनवरत जीवन-अभिनय (जो असंख्य जन्मों तक जारी रहता है) के अधिकांश भाग में, इस गुह्य तथा गोपनीय सत्य का ज्ञान नहीं रहता, **कि नाटक का रचयिता अपनी कल्पना कृति में, स्वयं नाना**

लुका छिपी का खेल।

अभिनेताओं के रुप में प्रकट होकर, लुका-छिपी का खेल खेलता है, ताकि उसे पूर्ण ज्ञान-पूर्वक अपनी रचनात्मक अनंतता की अनुभूति प्राप्त हो। अनंतता को सान्तता के भ्रम में इस लिये फसना पड़ता है, कि उसे यह मालूम हो जाय, कि वह अनंतता है। नाटक-कार्य-रचयिता स्वयं नाटक पात्र बनकर, पूरे नाट्य-विषय का अभिनय इस लिये करता है, कि वह यह जान जाय, कि सृष्टि के कलों के द्वारा जिस महानतम जासूसी नाट्य-कथा की रचना की गयी है, उसका रचयिता वह स्वयं है।

———

6374

मुद्रकः- नवसमाज प्रेस, नागपूर.

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१४	अर	और
२	२	हैं।	है।
२	७	हैं	है
५	...	स्वतन्त्रता	स्वतंत्रता
८	....	औरों	औरों
८	....	तरिका	तरीका
१०	...	श्रीमेहरबाबा	श्रीमेहेरबाबा
१२	....	,,	,,
१६	७	आध्यात्मक	आध्यात्मिक
२०	६	अवसरों	अवसरों
३४	...	ज्यात	ज्योति
४०	...	उलबार	तलबार
५१	....	बुर	बुरा
५१	१९	उनम	उनमें
५१	२१	क	के
५५	२२		से
५७	१८	बिंदुप	बिंदुपर
५९	...	व्यवस्थिल	व्यवस्थित
५९	....	आवश्यकता	आवश्यकता
६२	....	...	सादृश्य
६२	२२	प्रति	प्रति-
७९	...	धना	साधना
८०	...	सार्थक	साधक
८७	२	जींवन	जीवन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११२	...	ज्याति	ज्योति
११८	२२	होता	होता ।
१२४	...	श्रीमेहरबाबा	श्रीमेहेरबाबा
१३५	३	मार्ग	मार्ग
१४२	१२	Campromise	Compromise
१४५	२	ह	है
१५६	१४	युद्धिग्राह्य	बुद्धिग्राह्य
१५९	३	आत्म	आत्मा
१६८	...	श्रीमेहरबाबा	श्रीमेहेरबाबा
२११	....	सिहावलोकन	सिंहावलोकन
२१३	....	नर्जन्म	पुनर्जन्म
२१५	२०	स	से
२१५	२५	नर्दय	निर्दय
२२०	१	क	के
२२९	...	नर्जन्म	पुनर्जन्म
२३०	१	पर्व	पूर्वी
२३१	...	कम	कर्म
२३८	...	ज्यत	ज्योति
२३८	...	पुनजन्म	पुनर्जन्म
२४२	२५	नार्थ	स्वार्थ
२४४	२१	संबध	संबंध
२४६	....	अखड	अखंड
२४६	१	हाते	होते
२४९	८	अवहेलन	अवहेलना
२५१	...	नर्जन्म	पुनर्जन्म
२५६	२३	कि	की